Government Oriental Library Series

Edited by the Pandits under the Supervision of the Curator, Government Oriental Library, Mysore.

Bibliotheca Sanskrita No. 45

स्मृति च निद्रका

श्रीयाज्ञिकदेवणभट्टोपाध्यायर्चिता व्यवहारकाण्डस्तृतीयः तत्र प्रथमपरिच्छेदः

SMRITICHANDRIKA

BY

DEVANA-BHATTA

EDITED BY

L. SRINIVASACHARYA

Pandit, Govt. Oriental Library, Mysore

III. YYAYAHARA KANDA Part I

PUBLISHED WIDER THE AUTHORITY THE
GOVERNMENT OF HIS HIGHNESS TOE
MAINRAJA OF MYSORE

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS , 1914







Government Oriental Library Series

EDITED BY PANDITS UNDER THE SUPERVISION OF THE CURATOR, GOVT. ORIENTAL LIBRARY, MYSORE

Bibliotheca Sanskrita No. 45

स्मृति च निद्रका

श्रीयाज्ञिकदेवणभद्दोपाध्यायरचिता

व्यवहारकाण्डस्तृतीयः

तत्र प्रथमपिच्छेदः

SMRITICHANDRIKA

BY DEVANA-BHATTA

EDITED BY

L. SRINIVASACHARYA
Pandit, Govt. Oriental Library, Mysore

III. YYAYAHARA KANDA Part I

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF MYSORE

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS 1914 1215 R5D4 194 V. 3



NOTE

The following manuscripts have been used for editing this Volume:—

- (1) A paper manuscript belonging to the Adyar Library.
- (2) A palm-leaf manuscript belonging to the Adyar Library.
- (3) Two palm-leaf manuscripts Nos. 3884 and 466 of the Government Oriental Library, Mysore.
- (4) A palm-leaf manuscript belonging to Pandit Srisailam Tatacharya of Conjeeveram.

27-7-14. A.M.S.



स्मृतिचन्द्रिकायां व्यवहारकाण्डे प्रथमपरिच्छेदविषयाः

| वेषयसंख्य | या. | | | ! | पुटसंख्या. |
|-----------|-------------------------------|---------|---------|------|------------|
| 1 | व्यवहा रस्वह्न पनिह्नप | गम् | **** | | 1 |
| 2 | अष्टा द शपदनिरूपणम् | *** | +661 | **** | 4 |
| 3 | व्ववहारभेदाः | | **** | **** | 20 |
| 4 | निर्णेतृनि र्णयः | | | **** | 29 |
| 5 | धर्मस्थाने अवस्थाना | न् | **** | **** | 42 |
| 6 | व्यवहारदर्शन विधिः | **** | 4*** | | 52 |
| 7 | आसेघाविधिः | *** | •••• | **** | 67 |
| 8 | व्यवहारदर्शनोपक्र मः | | *** | **** | 70 |
| 9 | प्रतिज्ञापादः | | **** | **** | 80 |
| 10 | उत्तरपाद: | *** | **** | *** | 92 |
| 11 | विवादविषयवचनानि | •••• | **** | *** | 105 |
| 12 | प्रत्या कलितपादः | • • • • | **** | **** | 113 |
| 13 | ऋियापादः | | **** | **** | 123 |
| 14 | लेख्यनिरूपणम् | *** | **** | | 125 |
| 15 | लेख्यपरीक्षा | **** | * * * * | | 139 |
| 16 | भुक्तिनिरूपणम् | | *** | *** | 153 |
| 17 | साक्षिलक्षणानि | **** | **** | | 173 |

| वेषयसंख | या. | | | | पुटसंख्या. |
|------------|-----------------------|-------------------|---------|---------|------------|
| 18 | साक्षिभेदाः | • • • • | •••• | | 184 |
| 19 | असाक्षिभेदाः | •••• | **(| •••• | 187 |
| 20 | साक्षुद्भावनम् | •••• | *** | | 191 |
| 21 | साक्षिपरीक्षा | ••• | **** | •••• | 195 |
| 22 | साक्ष्यनुयोजनविधिः | **** | **** | ••• | 198 |
| 23 | साक्ष्यप्रश्नविधिः | •••• | ••• | | 203 |
| 24 | साक्ष्यवादिविधिः | •••• | **** | ••• | 206 |
| 25 | साक्षिवचोविषयवचन | गानि | | •••• | 208 |
| 26 | साक्षिविषयवचनानि | *** | • • • • | •••• | 212 |
| 27 | असाक्षिप्रत्ययाः | ••• | •••• | • • • | 220 |
| 28 | दिव्यनिरूपणम् | •••• | •••• | •••• | 222 |
| 29 | अभियोगाल्यत्वमहत्त्व | ाज्ञानोपयोगिवच ना | नि | | 229 |
| 30 | धनपरिमाणतो दिव्य | च्यवस्था - | •••• | | 232 |
| 31 | विवादिजात्यादितो वि | देव्यव्यवस्था | **** | | 239 |
| 32 | ऋतुतो दिव्यव्यवस्थ | т | •••• | •••• | 242 |
| 3 3 | दिव्यदेशाः | •••• | •••• | •••• | 243 |
| 34 | श्चटनिर्माणविधिः | •••• | **** | • • • • | 245 |
| 35 | सर्वदिव्यसाधारणाविर्व | धे: | | | 248 |
| 36 | धटारोपणविधिः | ••• | •••• | **** | 253 |
| 37 | अग्निविधिः | **** | •••• | •••• | 260 |
| 38 | कोशविधिः | ***. | **** | •••• | 271 |
| 39 | तण्डुलाविधिः | •••• | *** | • • • • | 275 |
| 40 | तप्तमाषविधिः | **** | | •••• | 277 |
| 41 | फालविधिः | *** | • • • • | :*** | 279 |

| विषयसंह | चा. | | | पुटसंख्या. |
|---------|------------------|------|------|------------|
| 42 | धर्मजदिव्यविधिः | •••• | **** | 280 |
| 43 | निर्णयादिकृत्यम् | | | 281 |
| 44 | दण्डविषयवचनानि | •••. | *** | 290 |
| 45 | पुनन्यायः | | **** | 300 |
| 46 | कृतनिवर्तनम् | **** | •••• | 305 |
| 47 | बालादिधनविषयवच | नानि | •••• | 310 |

व्यवहारकाण्डे प्रथमपरिच्छेदे अद्युद्धसंशोधनम्

| पुटे | पङ्कौ | अशु द्ध म् | शुद्धम् |
|------|-------|-------------------|-----------------------|
| 32 | 10 | — च्छिनत्तीति | — छिनत्तीति |
| ,, | 17 | धार्मिकन् | धार्मिकान् |
| 41 | 5 | याग्यि | योग्य |
| ,, | 15 | सिद्ध | सिद्धच |
| 80 | 8 | प्रतिज्ञावाद: | प्रतिज्ञा पादः |
| 90 | 5 | भेद | छेद |
| 160 | 21 | धनागम | धनागम: |
| 251 | 10 | अङ्गी नां | अङ्गानां |
| | | | |

स्मृति च निद्र का यां

व्यवहारकाण्डः.

इदानीं व्यवहारकाण्डमारभ्यते—तत्रादौ व्यव**हारस्वरूपं** निरूप्यते । तत्र वृहस्पतिः—

> धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्नाहसस्काः । लोभद्रेषाभिभृतानां व्यवहारः प्रकीर्तितः ॥

अस्यार्थो नारदेन विद्यतः-

धर्मैकतानाः पुरुषाः यदाऽऽसन् सत्यवादिनः । तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः॥ नष्टे धर्पे मनुष्याणां व्यवहारः मकीर्तितः।

इति । मनुष्याणां ऋणादानादिविषयका विवादा व्यवहारः मकीर्तित इसर्थः । तथा च कात्यायनः—

मयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्मारूये न्यायविस्तरे । साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहारस्त खच्यते ॥

अयमर्थः—'सम्यग्भापणाहिंसनिनिमित्तम्' इत्यादिपयत्रसाध्ये धर्माख्ये पदार्थे लोभद्देपादिवशाद्विच्छिन्ने सति यत्र ऋणा SMRITI CHA.—Vol. III. दानादौ साधनपाप्तचर्थ समयधर्मादौ च परधर्मवर्जनार्थ न्या-यविस्तरणं क्रियते, तत्र साध्यपूळी यो मनुष्याणां विषादः स व्यवहार उच्यते इति । अत एव हारीतः—

स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधर्मस्य वर्जनम् । न्यायेन क्रियते यत्र व्यवहारस्स उच्यते—

धनापह्नविवादः पाषण्डादीनां स्वभर्मसमयविवादोपि व्य-वहार इत्यर्थः। न वैवं चौर्यपारुष्यादिविवादो न व्यव-हार इति शङ्कनीयम्। यत आह याज्ञवल्क्यः— समृसाचारव्यपेतेन मार्गेणाधिपतः परैः।

आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥

इति । कासायनोपि-

शिष्यं क्रोधेन हन्याच्चेदाचार्यो छतया विना । येनात्यर्थ भवेत्पीडा वादस्स्याच्छिष्यतः पितुः ॥

बृहस्पतिरपि-

पयच्छेचेद्रृतिं स्वामी भृत्यानां कर्म कुर्वताम् । न कुर्वन्ति च भृत्याश्चेत्तत्र वादः पवर्तते ॥ हिंसां वा कुरुते कश्चिद्देयं वा न पयच्छति । द्रे हि स्थाने विवादस्य तयोर्बहुतरा गतिः ॥

उशनाऽपि-

कार्यमुद्दिश्य यत्किञ्चित्त्वचिद्राज्ञे निवेदयेत् । पदं सदष्टादशधा विवादानां प्रकीर्तितम् ॥ प्वश्चाष्टादशिवधिवपाणामन्यतमिविषयको विवादो व्यवहार इति याज्ञवल्क्यादिवचनानामाधिकोऽधेः प्रत्येतव्यः । अत एव नारदः—

ऋणादानं ह्युपनिधिः सम्भूयोत्थानमेव च ।
दत्तस्य पुनरादानमश्चश्रूषाऽभ्युपेस च ॥
वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविकयः ।
विक्रीयासम्प्रदानं च क्रीत्बाऽनुशय एव च ॥
समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा ।
स्त्रीपुंसयोश्च सम्बन्धो दायभागोऽथ साहसम् ॥
वाक्पारुष्यं तथैवोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ।
द्यूतं प्रकीर्णकं चैवेत्यष्टाइशपदः स्मृतः ॥

ऋणादानाद्यष्टादशिवषयान्यतमिवषयो ब्यवहारः स्मृत इः सर्थः । न च वाच्यम्— निक्षेपादिपदान्तरव्यवहारस्मरणा-दृष्टादशपदः स्मृत इत्येतिहरुद्धिमिति । यत आह स एव—

एपामेव प्रभेदोऽन्यक्शतमष्टोत्तरं स्मृतम् ।
क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते ॥
इति । कासायनोपि—

अष्टादशिकयाभेदाद्भिन्नान्यष्टसहस्रशः । इति । कियाभेदात् साध्यभेदादिसर्थः । अनेन व्यवहारा अ-प्यष्टसहस्रशो भिन्ना इत्यर्थादुक्तम् । शतमष्टोत्तरमष्टसहस्रश इत्येतयोर्वेहुत्वमतिपादनपरत्वादिवरोधः । इति स्मृतिचन्द्रिकायां व्यवह।रस्वक्ष्पिनरूपणम् । अथाष्टादशपदनिरूपणम्

तत्र ऋणादानस्य स्वरूपं भेदाश्च केचिन्नारदेन दर्शिताः।

ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्मश्च ऋणादानमिति स्मृतम् ॥

चूतादिकुतिसतेतरकार्यार्थे पित्रादिकृतं ऋणं देयम् । कुटु म्बभरणाद्यावश्यकेतरकार्यार्थे पुत्रादिकृतमृणं देयम् । पुत्र-पौत्राद्यधिकारिणां वाल्यापगमनान्तरादिकाले द्वेगुण्यादिषका-रेण ऋणं देयमिति यत्तत्तर्वे, तथा 'वन्धग्रहणादिधनप्रयोग-धर्माश्यौनः' इत्यादिपयुक्तथनादानधर्माश्च यस्मिन्विवादविषय उक्ताः तत्पदमृणादानमिति समृतमित्यर्थः । द्वितीयपदस्यापि स्वरूपं भेदं चाह स एव —

स्वद्रव्यं यत्र विस्नम्भानिक्षिपत्यविशिक्कतः ।

निक्षेपो नाम तत्मोक्तं व्यवहारपदं बुधैः ॥

असङ्ख्यातमिवज्ञातं समुद्रं यिन्नधीयते ।

तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥

इति । निक्षेपोपनिध्योगीणितागणितत्वनिवन्धनो भेद इत्यर्थः ।
अविज्ञातमित्यस्यार्थो वृहस्पतिना प्रपश्चितः—

अनाख्यातं व्यवहितमसङ्ख्यातमदर्शितम् । मुद्राङ्कितं च यद्त्तं तदौपनिथिकं स्मृतम् ॥ इति । दत्तं परहस्त इति शेषः । तथा च याज्ञवल्क्यः — भाजनस्थमसङ्ख्यातं हस्ते न्यस्य यदर्ध्यते । द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥

भाजनं निक्षेष्यस्याधारभूतं करण्डकादिपात्रम् । हस्त इत्युपलः क्षणम् । अत एव नारदः—

> अन्यद्रव्यव्यवहितं द्रव्यमव्याकृतं च यत् । निक्षिप्यते परगृहे तदौपनिधिकं स्मृतम् ॥

यत्र तल्लक्षणरहितं स्थाप्यते तन्नचासाख्यमित्याह वृहस्पतिः—

राजचोरारातिभयाद्दायादानां च वाधनात् । स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासस्तत्परिकीर्तितः ॥

इति । कात्यायनस्त्वस्यापवादमाह--

ऋयमोषितिनिक्षिप्तवन्धान्वाहितयाचितम् । वैद्यवृत्त्यार्पतं चैव सोऽर्थस्तूपनिधिस्समृतः ॥

क्रयः क्रयधनम् । प्रोपितनिक्षिप्तमित्यत्र प्रोपितग्रहणं प्रवत्स्यत उपलक्षणार्थम् । वन्ध आधिः । अन्वाहितमन्यस्मै दातुम-पितम् । याचिनं परकीयमलङ्काराद्यर्थमानीतम् । वैद्यवृत्त्यपितं वृत्त्यर्थमपितं कृष्यादिकमीद्यर्थमन्यस्यापितम् । एवम्रक्तभेदो निक्षेपादिः पुनद्विध इत्याह नारदः—

> स पुनर्दिविधः मोकः साक्षिमानितरस्तथा । मतिदानं तथैवास्य मत्ययस्चाद्विपर्यये ॥

प्रत्ययो दिन्यम् ॥
तथा तृतीयपदस्यापि तेनैव स्वरूपभेदौ दार्शतौ—
वाणिकप्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते ।
तत्संभूयसमुत्थानं न्यवहारपदं स्सृतम् ॥

विणिजो वाणिज्यं, ऋत्विजो यज्ञं, कृपीवलाः कृपिं, हेमकारा-दयश्चिराल्पं, नर्तकादयो नृत्तादिकं, स्तेनाः स्तेयं यत्र संहत्य कुर्वते, तत्संभूय क्रियमाणं वाणिज्यादि सम्भूय समुत्तिष्ठन्ते समेधन्तेऽनेनेति ब्युत्पत्त्या सम्भूयसमुत्थानारूयं व्यवहारपदामि त्यर्थः । वणिक्पभृतय इत्यनेनैवैते भेदा दर्शिताः । तथा चतुर्थ-स्वापि पदस्य स्वरूभेदौ तेनैव दर्शितौ—

> दत्वा द्रव्यमसम्यग्यत् पुनरादातुपिच्छति । दत्तापदानिकं नाम व्यवहारपदं हि तत् ॥

यस्मिन् दाने दत्तं द्रव्यं कर्मकारादिवैगुण्यात् पुनस्सम्प्रदानादपहार्यं तद्दानम् । दत्तस्यापदानमस्मिन्विद्यत इति व्युत्पत्त्या
दत्ताप्रदानिकाख्यं व्यवहारपद्मिति श्रौतोऽर्थः । तथा कर्मका
राद्यवैगुण्यादत्तस्यानपाकर्मानपनयनमस्मिन्निति व्युत्पत्त्या दत्तान गाकर्माख्यमपीदमेव पद्मित्यार्थिकोऽर्थः । एवं श्रुत्यर्थाभ्यामस्य पदस्य द्वैविध्यमभिधाय पुनर्देयादेयादिकर्मकारकभूतद्र
व्यभेदेन चातुर्विध्यमाह स एव—

अथ देयमदेयं च द्त्तं चादत्तमेव च।

व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्वियः ॥
देयमनिषिद्धं दानिक्तयायां निर्वर्तकं द्रव्यम् । अदेयं चानिवर्तकम् । दत्तं दाने सित सम्प्रदानादनपहार्यम् । अद्तं चाप
हार्यमिस्रेतदेयादेयदत्तादत्तदीनमार्गो दानप्रकारश्चतुर्विधो व्यवहारेषु विज्ञेय इसर्थः । तथाऽनन्तरपदस्यापि स्वरूपभेदावुक्तौ—

अभ्युपेत्य तु शुश्रूपां यस्तां न प्रातिपद्यते । अशुश्रूपाऽभ्युपेसेताद्विवादपदमुच्यते ॥

यिक्छिष्यादिशुश्रूपकस्याङ्गीकृतगुर्वाद्याज्ञाऽकरणं तदभ्युपेसाशु-श्रूपाख्यं विवादपदमिसर्थः । य इति सामान्य्राब्दोक्त-शिष्यान्तेवासिभृतककर्मकृदासाख्यपञ्चशुश्रूपकवशात् पञ्चविध-त्वमस्य पदस्यार्थात्सिद्धमिति न तेन पृथग्भेदो दार्श्वतः । वृहस्पतिना पुनर्वहुधा भेदा दार्भ्यताः—-

अनेकधा त्वभिहिता जात्तिकर्मानुक्पतः । विद्याविज्ञानकामार्थनिमित्तेन चतुर्विधा ॥ एकैकः पुनरेतेषां कियाभेदात्प्रभिद्यते ॥

इति । वेदविद्या हि शिष्यस्य शुश्रूपुकत्वे निमित्तम् । शिल्प-विज्ञानमन्तेवासिनः । कामार्थौ भृतकादेः । अनन्तरपदस्य तु स्वरूपभेदौ नारदेनाभिहितौ—

भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः । वेतनस्यानपाकमे तद्विवादपदं स्मृतम् ॥ भृत्यानां भृत्यर्थं कर्म कुर्वतां वेतनस्य भृतेद्दानादानिविधिक्रमः ईदशस्य देयं ईदशस्य न देयम्, दत्तमप्येवंविधात् मत्यादेयं क्विचिद्विगुणं देयमित्याद्यक्तं यत्र विवादपदे तद्वेतनस्य
भृतेरनपाकर्म अनपनयनमननुरूपकरणं वाऽत्र विद्यते इति
व्युत्पत्त्या वेतनानपाकर्माख्यं विवादपदिमिसर्थः । अनेनैव
देयादिसाध्यभेदादस्य पदस्यानेकविधत्वम्रक्तम् । एवममन्तरपदस्याप्याह—

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नर्धं लब्ध्वाऽपहृत्यं वा ।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत् स क्षेयोऽस्वामिविक्रयः ॥
असमक्षं स्वामिन इति क्षेषः । तथा च व्यासः—
याचितान्वाहितन्यासं हृत्वा वाऽन्यस्य यद्धनम् ।
विक्रीयते स्वाम्यभावे स क्षेयोऽस्वामिविक्रयः ॥
स्वाम्यभावे स्वामिनोऽसिक्षधावित्यर्थः । एवमनन्तर्पदस्यापि
स्वरूपविभागौ द्रष्ट्व्यौ । तथा च नारदः—
विक्रीय पण्यं मूल्पेन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते ।
विक्रीयासम्प्रदानं तद्विबादपदमुच्यते ॥
अस्य च पण्यभेदतो भेद इति तद्वेदमाह—

लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं जङ्गमं स्थावरं तथा ।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वे तत्पण्यमुच्यते ॥
पिंड्वधस्तस्य तु बुधैः दानादानविधिस्समृतः ।
गणितं तुलितं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया ॥

अस्यार्थः —गणितं क्रमुकादि, तुलितं कनकादि, मेयं प्रस्थादि ना व्रीह्यादि, क्रियया दोहनादिकया अश्वमहिष्यादि, रूपतः पण्याङ्गनादि, श्रिया कान्या स्वादि । एवमनन्तरपदस्यापि स्वरूपमाह —

क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं केता न वहु मन्यते । क्रीत्वाऽनुशय इत्येतद्वियादपदमुच्यते ॥

न बहु मन्यते न परामर्शापूर्वमिति मन्यत इसर्थः । तथाऽनन्तरप-दार्थनिरूपणार्थमाह—

> पापण्डनैगमादीनां स्थितिस्समय उच्यते । समयस्यानपाकमे तद्भिवादपदं स्मृतम् ॥

पाषण्डाः क्षपणादयः । नैगमास्साधिकाः वणिजः । आदिशब्देन
त्रैविद्यत्राह्मणसमूहश्रेणीपूगत्रातगणगुल्मग्रामदेशादयो गृह्यन्ते । तेपां स्थितिः पारिभाषिकधमेतो व्यवस्था समयः तस्यानपाकमे
अनुल्लङ्खनं यत्तत्समयस्यानपाकमे । तद्वयथा कियमाणं विरुद्धलक्षणयाऽर्थवत् । समयस्यानपाकमी विवादपदं स्मृतिमिसर्थः । संविद्वचितिक्रम इति मुख्यमाख्यान्तरमस्य पदस्य प्रसिद्वत्वान्नोक्तम् ।

अनन्तरपदमपि व्याचष्टे-

सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टानिश्चयाः । क्षेत्राधिकारा यत्र स्युर्विवादः क्षेत्रजस्स्मृतः ॥ Smriti Cha.—Vol. III सेतुर्जलप्रवाहवन्थः । केदारः क्षुद्रवास्तुभिः कल्पितो देशः, क्षेत्रमात्रा वा । मर्यादा क्षेत्रादिशीमा । विकृष्टो लाङ्गलादिनोद्धे दितो देशः । अकृष्टः खिलो देशः । तेषां निश्चयाः क्षेत्राधिकाराः क्षेत्रविषया यत्र भवेयुः स क्षेत्रजो विवाद इत्यर्थः । स च पद्प-कार इत्याह कात्यायनः—

आधिवयं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च । आभोगभुक्तिस्तीमा च पट् भूवादस्य हेतवः ॥

अस्यार्थो विविच्योच्यते— काञ्चिद्रभागमङ्गीकृत्य ततो ऽ धिका भूरास्ति नेतीति विवाद आधिक्यानिवन्धनः । एतावती भूस्तव नित्युक्ते ममतावसस्तीसेवंविधो न्यूनताहेतुकः । अस्यां भुवि ममांशोऽस्तीत्युक्ते नेत्येवंविधोऽशोऽस्तित्वकारितः । अत्र तवांशो नास्तित्युक्ते विद्यत इत्येवंविधोऽशो नास्तित्विनिमक्तकः । मदीया भूस्तृया प्रागभुज्यमानैवेदानीं भुज्यत इत्युक्ते प्रागिष भुक्तिरस्तीत्येवंविधो भोगभुक्तिवीजकः । इयं मयीदा मदीया या भुव इत्युक्ते नेत्येवंविधस्सीमासम्भवः । स च यावत्सीमाभेदं भिद्यत इति भेदमाह नारदः—

ध्विजनी मित्स्यनी चैव निधानी भयविजता । राजशासननीता च मीक्षा पश्चिविधा स्मृता ॥ ध्विजनी वृक्षादिना लक्षिता । मित्स्यनी जलेन । नैधानी निखातकृष्टादिना । भयविजता वादिनोर्मियस्सम्प्रतिपत्तितः कृता । राजशासननीता राजेच्छया निर्मिता । अथ तेनैवानन्तरपदद्वयस्य निरूपणं संक्षेपेण कृतम्—
विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च किट्यिते ।
स्त्रीपुंसयोगसंग्नं तद्विवादपद्मुच्यते ॥
विभागोऽथस्य पित्र्यादेः पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते ।
दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधेः ॥

उभयत्रादिशब्देन बहुविधो भेदो दार्शितः । पुत्रैरिति दाया-दोपलक्षणार्थम् । अनन्तरपदत्रयस्य तु प्रपञ्चेनैव निरूपणं कृतम्—

सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्धलदर्पितैः । तत्साहसमिति शोक्तं सहो वलमिहोच्यते ॥ यत्किञ्चिन्मध्यगधनापहरणादिकमित्यर्थः । तथाच याज्ञवल्क्यः-

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणं साहसं स्मृतम् ॥ इति । सामान्यद्रव्यग्रहणं मनुष्यमारणादेरुपलक्षणार्थम् । अत-एव वृहस्पतिः—

> मनुष्यमारणं चौर्य परदाराभिमर्शनम् । पारुष्यमुभयं चेति साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥

इति । एवमनेकिविधत्वमस्य पदस्य यत्किञ्चिच्छब्देन लक्षणश्लो-कगतेनोक्वा पुनस्त्रैविध्यमाह नारदः—

> तत्पुनिस्तिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा। उत्तमं चेति शास्त्रेपु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥

लक्षणमपि प्रपश्चितं तेन---

फलमुलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च ।
भङ्गाक्षेपोपमर्दाद्येः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥
वासःपकालपानानां गृहोपकरणस्य च ।
एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥
व्यापादो विपशस्त्राद्येः परदाराभिमर्शनम् ।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम् ॥

इति । विविधानामापदां विषादिभिरापादनं व्यापादनम् ॥ तथा वाक्पारुष्यस्य स्वरूपमाह—

देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्गसंयुतम् ।
यद्भः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥
यद्भनं देशाद्याक्षेपार्थवोधकं, यचात्यन्तदुःखकरार्थकं तद्वाक्पारुष्यम् । तदिपि त्रिविधमिसाह—

निष्ठुराश्लीलतीत्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम् ।

इति । निष्ठुरादीनां स्वरूपमाह—
साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यक्रसंयुतम् ।
पतनीयैरुपक्रोशैः तीव्रमाहुर्मनीपिणः ॥

धिक्यूर्यजाल्मेसादि साक्षेपम् । न्यङ्गं भगिनीसम्बन्धाद्यवद्यम् । पतनीयैः सुरापोसीसादिभिः । तथाच कात्यायनः — यन्वसत्सं ज्ञितेरङ्कैः परमाक्षिपति कचित् । अभूतैर्वोऽथ भूतेर्वो निष्ठुरा वाक् समृता वृधैः ॥

न्यग्भावकरणं वाचा क्रोधातु कुरुते यदा । वृत्तेर्देशकुलादीनामश्लीला सा बुधैः स्मृता ॥ महापातकयोक्की च रागद्वेपकरी च या । जातिभ्रंशकरी वाऽथ तीत्रा सा प्रथिता तु वाक् ॥

बृहस्पतिस्त्वत्रापि साहसवत् प्रथममध्ययोत्तमभेदेन त्रैविध्यमाह-

देशग्रामकुलादीनां क्षेपः पापेन योजनम् ।

द्रब्यं विना तु प्रथमं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥

भिग्नीमातृसम्बन्धसुपपातकशंसनम् ।

पारुष्यं मध्यमं प्रोक्तं वाचिकं शास्त्रवेदिभिः ॥

अभक्ष्यापयकथनं महापातकदूपणम् ।

पारुष्यसुत्तमं प्रोक्तं तीवं मर्माभिघट्टनम् ॥

इति । द्रव्यं विना द्रव्यवैशिष्ट्यं विनेत्यर्थः । कासायनस्त्वन्यानि

वाक्पारुष्यभेदानाह—

हुङ्कारः कासनं चैव लोके यच विगाईतम् । अनुकुर्यादनुबूयाद्दाक्पारुष्यं तथोच्यते ॥ योऽगुणान् कीर्तयेत्क्रोधान्निर्गुणे वा गुणज्ञताम् । अन्यसंज्ञानुयोगी वा वाग्दुष्टं तं नरं विदुः ॥

इति । व्यासस्तु दण्डपारुष्यस्यरूपमाह—

भस्मादीनां प्रक्षिपणं मोडनं च करादिना ।

आवेष्टनं चांशुकाचैदिण्डपारुष्यमुच्यते ।।

वृहस्पतिरपि-

हस्तपापाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांसुभिः। आयुपेश्च प्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते॥ प्रहरणं परगात्रेष्ट्रिति शेषः। तथाच नारदः— परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः। भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते॥

परगात्रेषु स्थावरजङ्गममूर्तिषु । दण्डो द्रोहः । पारुष्यं निष्ठरता । एतदिप पदं त्रिविधमित्याह स एव—

> तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात् । अवगूरणनिक्शङ्कपातक्षतजद्रश्नैः ॥

हानमध्यमोत्तमानां तु द्रव्याणां समितिकमादिति कर्तुव्यापारता-रतम्यात्, कर्माभूतद्रव्यवैशिष्ट्यतारतम्याच प्रथममध्यमोत्तमभा-वेन त्रैविद्यमित्यर्थः। ननु—पारुष्यद्वयस्य साहसाविशेषत्वात् पदान्तरत्वेनोक्तिरयुक्ता, ससम्, सहसा कियमाणस्य साहस-विशेषत्वं छलेन पुनः कियमाणस्य पदान्तरत्वमेव, साहसलक्ष-णाभावात्। तथाचोक्तं तेनैव—

> तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र तूच्यते । आधिस्साहसमाऋम्य स्तेयमाधिः छलेन तु ॥

आधिः क्रेशः, स आक्रम्यार्थहरणद्वारा क्रियमाणः साह-सम्। छलेन पुनर्र्थग्रहणद्वारा क्रियमाणं स्तेयमित्यर्थः। ननु अनेन स्तेयस्य भेद उक्तो न पारुष्यस्य। सत्यं, अपृथगुाहि पृथ्यापि भेद उक्ते पृथगुदिष्टस्य मुतरामेव भेदो लक्ष्यत इति स्ते-यमात्रस्योक्त इसविरोधः । अतः पदान्तरत्वेनाप्युक्तिर्युक्तेव । अत एव सङ्गहकारः—

मनुष्यमारणादीनि क्रियन्ते प्रसमं यदि ।
साहसानीति कथ्यन्ते यथाख्यान्यन्यथा पुनः ॥
अन्यथा पुनर्यद्यपसमं कृतानि तदा यथाख्यानि स्तेयस्त्रीसङ्ग्रह
णवाक्पारुष्यदण्डपारुष्याख्यानीत्यर्थः । नन्नेवं स्त्रीस्तेयसङ्ग्रहणयोरापि साहसात् पृथगुदेशनं कार्यम् । ससम्, तत एवमनुना

स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥

इति पृथगुाईष्टम्। नारदेन तु तयोक्छेल्नैव कियमाणत्वात् पदान्तरत्वं स्फुटमेवेति साहसान्तर्भाव एवोदेशदशायां दर्शितः।
पारुष्यद्वयस्य तु पायेण प्रसभं कियमाणत्वात् पदान्तरत्वमन्यक्तमिति पृथगप्युदेशः कृत इति सर्वमनवद्यम्। स्तेयस्य
साहसात् भेदम्रका त्रैविध्यमप्युक्तं नारदेन—

तदिष त्रिविधं ज्ञेयं द्रव्यापेक्षं मनीपिभिः । श्रुद्रमध्योत्तमानां तु द्रव्याणामपहारतः ॥ श्रुद्रादिद्रव्याण्यपि तेनैव दक्षितानि—

मृद्धाण्डासनखट्टास्थिदारुचर्मतृणादि यत् । शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रद्रव्यमुदाहृतम् ॥ वासः कोशेयवर्जं तु गोवर्जं पशवस्तथा । हिरण्यवर्ज छोहं च मध्यं ब्रीहियवादि च ॥
हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुंगोगजवाजिनाम् ।
देवब्राह्मणराज्ञां च विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम् ॥
उपायैविविधेरेषां वश्चियत्वाऽपकर्षणम् ।
सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीपिणः ॥

इति । शमीधान्यं कोशवेष्ठितं मापमुद्गादि । कौशेयं क्रिमिकोशजा-ततन्तुनिर्मितम् । स्त्रीसङ्ग्रहणस्य तु त्रैविध्यमाह षृहस्पतिः—

> पापमूलं संग्रहणं त्रिप्तकारं निवोधत । बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।

सङ्ग्हणं परिश्वया सह पुरुषस्य सम्बन्धः । तथाच नारदः—
परिश्वया सहाकालेऽदेशे वा पुरुषस्य तु ।
स्थानसंभापणामोदास्त्रयस्संग्रहणक्रमाः ॥

इति । स्रोक्तित्रियकारलक्षणमाह वृहस्पितिः—
अनिच्छन्त्या यित्कियते सुप्तोन्मत्तप्रमत्तया।
प्रलपन्या वा रहश्च वलात्कारकृतं तु तत् ॥
छद्मना गृहमानीय दत्वा वा मद्यकार्मणम् ।
संयोगः क्रियते यस्यां तत्तृपाधिकृतं विदुः ॥
अन्योन्यचक्षूरागेण दूतीसंप्रेषणेन वा ।
कृतं रूपार्थलोभेन होयं तदनुरागजम् ॥

कार्मणं वशीकरणम् । तथा प्रथममध्यमोत्तमभावेनापि त्रैंविध्यः स्रक्षणमाह स एव-

तत्पुनिस्तिविधं शोक्तं शयमं मध्यमोत्तमम् ।
अपाङ्गावेक्षणं हास्यं दृतीसंप्रेपणं तथा ॥
स्पर्शो भूषणवस्त्राणां प्रथमस्तंग्रहः स्मृतः ।
भेषणं गन्धमाल्यानां धूपमध्वन्नवाससाम् ॥
संभाषणं रहिस च मध्यमं संग्रहं विदुः ।
एकशय्यासनकीडाचुम्बनालिङ्गनं तथा ॥
एतत्संग्रहणं शोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ।

इति । च्यासोपि-

सङ्ग्हितिधो ज्ञेयः प्रथमो मध्यमस्तथा ।
उत्तमश्चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥
अदेशकालसंभाषा निर्जने च परिस्तया ।
कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमस्मंग्रहः स्मृतः ॥
प्रेषणं गन्धमाल्यानां धृषमूषणवाससाम् ।
प्रलोभनं चान्नपानेकिध्यमस्सङ्गहः स्मृतः ॥
शय्यासनं विविक्ते तु परस्परमुषाश्रयः ।
केशाकेशिग्रहेंश्चैव ज्ञेय उत्तमसङ्गहः ॥

विविक्ते रहिस । केशाकेशियहेः परस्परकेशयहणपूर्वकक्रीडा-भिः । कात्यायनोपि संयहभेदानाह—

द्तोपचारयुक्तश्चेद्वेलास्थानसंस्थितिः । कण्ठकेशाञ्चलग्राहः कर्णनासाकरादिषु ॥ Smriti Cha.—Vol. III. एकस्थानासनाहाराः संग्रहो नवधा स्मृतः । अञ्चलं वस्त्रपान्तम् । तथा— परास्त्रियाऽभिभाषेत तीर्थेऽरण्ये गृहेऽपि वा । नदीनां चैव संभेदे स सङ्गहणमाप्रयात् ॥

सम्भेदस्सङ्गमः। तथा--

उपकारिक्रिया केळिः स्पर्शो भूषणवाससाम् । सहस्वट्वासनं चैव सर्वे संग्रहर्ग स्मृतम् ॥ उपकारिक्रिया ताम्बूळादिदानेनोपकारकरणम् । केळिः परि-हासः । तथा च—

> स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्पयेत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वे सङ्ग्हणं स्मृतम् ॥

अदेशः स्तनादिपदेशः। नारदोपि—

पाणौ यां च निगृक्षीयात् वेण्यां वस्त्राश्चलेऽपि वा।

तिप्रतिष्ठेति वा ब्रूयात्सर्वं संग्रहणं स्मृतिमिति॥

तथा द्यूतसमाह्ययाख्यस्यापि पदस्य स्वरूपभेदवोधनार्थमाह

स एव—

अक्षवर्ध्र । शालाकाद्यैः देवनं जिह्मकारितम् ।
पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् ॥
वर्धः चर्ममयपट्टिका । आद्यशब्देन कपार्दिकादयो गृह्यन्ते । अक्षादिाभेः पणपूर्वकं देवनं क्रीडनं जिह्मकारितं कोंटिल्येन कृतं

¹ अक्षब्रध्न इति पाठान्तरम्,

यत् तत् चूतारूयम् । तथा वयो।भिः कुक्कुटादिभिः पणपूर्वकं देवनं समाह्वयारूयम् । तद्वयं मिळितं चूतसमाह्वयारूयमेकमेव पदमित्यर्थः । वयोग्रहणं प्राण्युपलक्षणार्थम् । अत एव मनुः —

> अमाणिभिर्यात्क्रियते तल्लोके चूत उच्यते । माणिभिः कियमाणस्तु स विज्ञेयस्समाह्यः ॥

बृहस्पातिरापि-

अन्योन्यं परिगृहीताः पक्षिमेपतृपाद्यः। महरन्ते कृतपणाः तद्वदन्ति समाह्वयम्॥

इति । प्रकीर्णकस्य लक्षणाभेदौ तु नारदेनोक्तौ—
प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः ।
राज्ञामाज्ञापतीघातः तत्कर्मकरणं तथा ॥
पुरप्रधानसंभेदः प्रकृतीनां तथैव च ।
पापण्डिनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययाः ॥
पितापुत्रविवादश्च प्रार्याश्चत्तव्यतिक्रमः ।
पतिग्रहिवलोपश्च लोप आश्रमिणामपि ॥
वर्णसङ्करदोपश्च तहुत्त्यनियमस्तथा ।
न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्व तत्स्यात्प्रकीर्णकम् ।

इति । नृपेण यद्याद्याद्यात्राच्यतिक्रमादौ प्रतिवादित्वमास्थाप्र निर्णतव्यम्, यच ऋणादानादिपूर्वोक्तपदेषु नोक्तम्, तत्सर्व प्रकीर्णकाल्यं पदमिसर्थः । वृहस्पतिः— कुसीदिनिध्याधेयाख्यं संभूयोत्थानमेव च ।

भृत्यादानमगुश्रूपा भूतादोऽस्वामिविक्रयः ॥

क्रयाविक्रयानुशयः समयातिक्रमग्तथा ।

स्त्रीपुंसयोगः स्तेयं च दायभागोऽश्रदेनवम् ॥

एतान्यर्थसमुत्थानि पदानि तु चतुर्दश ।

पुनरेवं प्रभिन्नानि क्रियाभेदादनेकधा ॥

पारुष्ये हे वधश्चैत परस्त्रीसङ्गृहस्तथा ।

हिंसोद्भवानि चलारि पदान्याह वृहस्पतिः ॥

हीनमध्योत्तमत्वेन प्रभिन्नानि पृथक्पृथक् ।

विशेष एषां निर्दिष्टः चतुर्णामप्यनुक्रमात् ॥

पदान्यष्टादशैतानि धर्मशस्त्रोदितानि तु ।

मूळं सर्वविवादानां ये विदुस्ते परीक्षकाः ॥

इति स्मृतिचान्द्रकायामष्टादशपदनिरूपणम्

अथ व्यवहारभेदाः

उक्तं स्वरूपान्तर्गतिविषयभेदतो व्यवहारस्य वहुविधत्वम्। अथ तस्यैवेदानी पणादिवशात् भेदः मितपाद्यते। अत्र याज्ञवस्वयः –

सपणश्चेद्विवादस्त्वात्तत्र हीनं तु दापयेत् ।

इति । पराजिते मयैतावत् राज्ञे दीयत इति दर्पवशादभ्युपगतं

धनं पणं तेन सहितः सपणः । चेच्छब्दादपणोपि, तेन द्विविधो

व्यवहारः । तथा चोक्तं नारदेन —

सोत्तरोऽनुत्तरश्चेति स विज्ञेयो द्विलक्षणः ।
सोत्तरोऽभ्यधिको यत्र विलेखापूर्वकः पणः ॥
मितिज्ञाविलेखनातपूर्वे यत्र व्यवहरे दण्डादभ्यधिकः पण उभाभ्यामुपेयते अन्यतरेण वा स सोत्तरो व्यवहार इसर्थः । तथाऽन्येऽपि भेदास्तेनोक्ताः —

स चतुष्पाचतुस्स्थानः चतुस्साधन एव च । चतुर्वितश्चतुर्व्यापी चतुष्कारी च कीर्त्यते ॥ अष्टाङ्गोऽष्टादशपदः शतशाखस्तयैव च । त्रियोनिद्वर्घभियागश्च द्विद्वारो द्विगतिस्तथा ॥

इति । स्वयमेव चैतान् प्रकारान् व्याचष्टे— धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् । चतुष्पादृचवहारोऽयं उत्तरः पूर्ववाधकः ॥

ननु-प्रतिश्वोत्तरप्रमाणनिर्णयानां व्यवहारपदत्वं न धर्मादीनामिति किमिदमुक्तम् ? उच्यते—निर्णयपादो धर्माद्यनुसारेण चतुर्विधः। तत्र यदनुसारेण यो निर्णयः सः तच्छब्देन निर्दिशयते। तेन धर्मादिभिरपि चतुष्पात्त्ववर्णनं युक्तमेव। तथाच वृहस्पतिः—

धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया ।

चतुष्प्रकारोऽभिहितस्सन्दिग्धेऽर्थे विनिर्णयः ॥

चतुर्विधानामपि निर्णयानां स्रक्षणमाह कात्यायनः—

दोषकारी तु कर्तृत्वं धनस्थामी स्वकं धनम् ।

विवादे प्राप्नुयाद्यत्र धर्मेणैव स निर्णयः ॥

दोषो हिंसादिः । कर्नृत्वं तत्कारित्वम् ।

स्मृतिशास्त्रं तु यितंकचित् प्रथितं धर्मसाधकैः ।

कार्याणां निर्णयार्थे तु व्यवहारः स्मृतो हि सः॥

धर्मशास्त्रनिरूपितप्रतिज्ञोत्तराद्यनुसारेण निर्णयो व्यवहाराख्य
इत्यर्थः ।

यद्यदाचर्यते येन धर्म्य वाऽधर्म्यमेव वा ।
देशस्याचरणानिसं चिरतं तत्मकीतितम् ॥
तदनुसारीति निर्णयोपि तथैव मकीर्तित इत्यर्थः ।
न्यायशास्त्रविरोधेन देशदृष्टेस्तथैव च ।
यं धर्म स्थापयेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम् ॥
अस्यायमर्थः — मानान्तराविरुद्धो राजवुद्धिमात्रपरिकालिपतो
निर्णयो राजशासनिर्युच्यते इति । अत्रैकैकप्रकारस्य पुनश्च
द्वैविध्यमाह बृहस्पतिः—

एकैको द्विविधः प्रोक्तः क्रियाभेदान्मनीपिभिः।

इति । द्वैविद्ध्यमपि तेनैव दार्शतम्—

समयग्विचार्य कार्य तु युक्तया संपरिकल्पितम्।

परीक्षितं च अपथैः स ज्ञेयो धर्मनिर्णयः॥

प्रतिवादी प्रपयेत यत्र धर्मस्स निर्णयः।

दिच्यैर्वा शोधितस्सम्यक् द्वितीयस्स उदाहृतः॥

सह तत्त्वानुसरणेन कृतः प्रथमो धर्माख्यनिर्णयः। विना तत्त्वानुसरणं सस्रोत्तरेण वा दिव्यप्रमाणेन वा कृतो द्वितीय इसर्थः।

ममाणिनिश्चितो यस्तु व्यवहारस्स उच्यते । वाक्छलानन्तरत्वेन द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ ममाण्मत्र मानुपं विवक्षितम् । दिव्यनिश्चितस्य धर्मानिर्णय-कोटित्वात् ।

अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कथ्यते। देशास्थित्या द्वितीयस्तु शास्त्रविद्भिरुदाहृतः॥

<mark>अनुमानम</mark>ुल्काहस्तादि लिङ्गम् ।

प्रमाणरहितो यस्तु राजाज्ञानिर्णयः स्मृतः। शास्त्ररीत्यविरोधेन तथा चान्यः प्रकीर्तितः॥

इति । प्रमाणरहित इसस्यार्थी व्यासेन प्रपश्चितः — लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् । अनुमानं विदुईतुं तर्कश्चेति मनीपिणः ॥ देशस्थितिः पूर्वकृता चरित्रं समुदाहृतम् । अर्थानुरूपादशपथाः स्मृत्यस्सत्यपदादयः ॥ तेषामभावे राजाज्ञां निर्णयं तु विदुर्वुधाः ।

इति । नन्धेवं तर्हि— 'उत्तरः पूर्ववाधकः इति नारदवचन-मसम्बद्धं, तत्त्वाथीनुगुण्यातिशयेन पूर्वस्यैवोत्तरवाधकत्वात्,

छलं निरस्य भूतेन व्यवहरान्नयेन्तृपः । इति याज्ञवल्क्येनोक्तत्वाच, उच्यते सत्यम्, उत्सर्गतस्सर्वत्रैवं, कः चिद्विषये तृत्तरः पूर्ववाधको भवत्येव । तद्विषयं च नारदवचनम् । तथाहि यदा केनचिद्विशिष्टेन राजन्यादिना मोहात्कथा चित्व

राजदारादेः स्पर्शनादिकं कृतम्, कृत्वा च स्वप्राणभयान्मिथ्या करोति साक्षिणश्च सन्ति ते च राज्ञा पृष्टास्सन्तो वधोऽस्य माभूदिति नायमस्य कर्मणः कर्तेति मिथ्यासाक्ष्यं ब्र्युः तदा दोषकारिणस्तत्कर्तृत्वाप्राप्तेर्धमों व्यवहारेण वाध्यते । युक्तं चात्र धर्मबाः
धनं 'वांणनां तु वधो यत्र' इति साक्षिणां मिथ्याभिधानविधानात् ।
यदा पुनः परदाराभिगमनं कृतमनेन साक्षिणो विद्यन्त इति कश्चिदाभीरादिः केनचिदभियुक्तो ब्रूते—सत्यमेतत् साक्षिभाषितं तथा
ऽपि नाहं दण्ड्यः चरित्रवलान्मयैतत्कृतम् । निवेशितं च पुस्तके
राज्ञा तदिति चरित्रेण व्यवहारो वाध्यते, व्यवहारतः प्राप्तस्य
दण्डस्य चरित्रतो निवृत्तत्वात् । युक्तं चात्र चरित्रेण वाधनम्—

ग्रामगोष्ठपुरश्रेणीसार्थसेनाानिवासिनाम् । व्यवहारश्चारित्रेण निर्णेतव्यो वृहस्पतिः ॥

इति वचनात्। चरित्रमपि कचिद्राजाज्ञया वाध्यते-कुलगृहाभ्यन्त-रे न केनचिद्राजपुरुषेण प्रवेष्टव्यमिति चरित्रमीदृशं कृतम्। ततो राज्ञा कश्चिदपराधी गृहं प्रविष्टो ज्ञातः ततो राज्ञा कश्चिद्राजपुरुष आज्ञप्तः गृहाभ्यन्तरमपि प्रविश्य स दुष्ट आनेतव्य इति तदा चरित्रमपि राजशासनेन वाध्यते । दुष्टनिग्रहस्यावशयकत्वेन चरित्रतो राजशासनस्य वलीयस्त्वाह् । एवंविधमेव विषयं सनिस निधाय वृहस्पतिनाऽप्युक्तम्—

शास्त्रं केवलमाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः।
•यवहारस्स विज्ञेयः धर्मस्तेनापहीयते॥

देशास्थित्याऽनुमानेन नैगमानुगतेन च ।
कियते निर्णयस्तत्र व्यवहारस्तु वाध्यते ॥
विहाय चरिताचारं यत्र कुर्यात् पुनर्नृपः ।
निर्णयं सा तु राजाज्ञा चरित्रं वाध्यते तया॥

इति । प्रकृतमुच्यते—चतुस्स्थानच्याख्यानार्थमाह— तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिपु । चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम् ॥

साक्षिग्रहणं धर्मशास्त्रस्थिद्वयंतरममाणस्य चोपलक्षणार्थम् । पुस्तकरणं लेख्यम् ।

चतुस्साधनमाह-

सामाद्युपायसाध्यत्वाचतुस्साधन उच्यते । विमतिपन्नार्थिमत्याथिनोस्सामाद्युपायसाध्यत्वादिसभिमायः । चतुर्हितमाह---

चतुर्णामाश्रमाणां तु रक्षणाच चतुर्कितः । आश्रमग्रहणं वर्णानामपि प्रदर्शनार्थम् ।

चतुर्वापिनमाह—

कर्तृस्तथा साक्षिणश्च सभ्यात्राजानमेव च ।
 च्यामोति पादशो यस्माचतुर्व्यापी ततस्स्यतः ॥
 सम्यगसम्यक् दृष्टो धर्माधर्मफलेन कत्रीदीन् पादशो च्यामोतीत्यर्थः ।

SMRITI CHA.—Vol. III

चतुष्कारिणमाह—

धर्मस्यार्थस्य यशसो लोकसक्तेस्तथैव च। चतुर्णो करणादेषां चतुष्कारी प्रकीर्त्यते॥

<mark>लोकसक्तिः लोकानुरागः</mark> ।

अष्टाङ्गमाह---

राजा सपुरुपास्सभ्याः शास्त्रं गणकलेखकौ । हिरण्यमग्निरुद्कमष्टाङ्गं समुदाहृतम् ॥

एतेषां तूपयोगमुपरिष्ठाह्यस्यामः । अष्टादशपदशतशाखयाच्यी-ख्यानं पूर्वनकरणयोदींशतिमहानुसंधेयम् ।

त्रियोनिमाह—

कामात्क्रोधाच लोभाच त्रिभ्यो यस्मात्प्रवर्तते । त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद्विवादकृत् ॥

यथासम्भवं सर्वत्रेति शेषः॥

द्रचाभयोगमाह-

द्वचिभयोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्वाभियोगतः ।

अत्रैवोदाहरणमाह-

शङ्काऽसतां तु संसर्गात्तत्वं होढादिदर्शनात्।

कितवस्तेनाद्यसिद्धसंसर्गात् साधाविष स्तेयादिशङ्का भवाति।

होढादिद्शनमपह्नतेकदेशादिलिङ्गोपलम्भः, प्रसक्षद्शेनं वा।

उदाहणमात्रमसतां संसर्गस्सतामप्याट्यानां संसर्गे साति निक्षे-

पादिशङ्कासम्भवात् । अतो नैतल्लक्षणं शङ्काभियोगस्य ॥ द्विद्वारमाह—

पक्षद्वयाभिसम्बन्धात् द्विद्रारस्सम्बदाहृतः ।
पूर्ववादस्तयोः पक्षः प्रतिपक्षस्तदुत्तरः ॥
वाद इति शेषः । द्वारं कार्यारम्भमद्यत्तिः ॥
दिगतिमाह—

भूतच्छलानुसारित्वात् द्विगतिस्सम्रदाहृता ।

भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलमिति ॥

हारतोिपि कांश्रिद्धेदानाह—

एकमूलो द्विरुत्थानो द्विस्कन्धो द्विफलस्तथा ॥
इति । कात्यायनस्तेतान्त्र्याचछे—
साध्यवादस्य मूलं स्याद्वादिना यन्निवेदितम् ।
देयापदानं हिंसा चेत्युत्थानद्वयमुच्यते ॥
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रे तु स्कन्धद्वयमुदाहृतम् ।
जयश्चैवावसायश्च द्वे फले समुदाहृते ॥

इति । अवसायः पराजयः । तथाऽन्योपि भेदस्तेनैव दर्शितः—

> पूर्वपक्षश्चोत्तरश्च पत्याकलितमेव च । क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः ॥

इति । प्रत्याकितमुत्तराङ्गीकारानन्तरमपि विवदमानयोः कस्य अत्र क्रियोपन्यसनं न्याय्यामिति प्रााड्विवाकादीनां विमर्शनम् । क्रिया लिखितादिप्रमाणं, तिल्लार्देशः क्रियापादः । विवादात्मक-व्यवहारपर्यवसानभागतया प्रसाकलितिकययोरपि व्यवहारत्वा चतुप्पात्समुदाहृत इत्युक्तम् ॥

अत एव सङ्गहकारेणापि पर्यवसानभागस्यापि व्यव हारत्वमुक्तम्—

> परस्परं मनुष्याणां स्वार्थवित्रतिपत्तिषु । वाक्यास्त्रचाय्यव्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥

इति । केचित्—उपन्यस्ते प्रमाणे प्रमाणाभावशङ्कापनोदकं जयप-राजयनिर्णयफलकं विमर्शनं प्रत्याकलितमाहुः । तन्मते पाद-सङ्ख्यैव हि विवक्षिता, न तु ऋषः । प्रत्याकलितपादस्य तुरीय-त्वापातात् । यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

तित्सदौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा।

इति । तत्रापि सिद्धिशब्देन सिद्धिफलकं प्रत्याकलितमुच्यते । न पुनर्जयपराजयावधारणरूपम्, तस्य संप्रतिपच्युत्तरेऽपि सच्चात्, द्विपात्संप्रतिपत्तिष्विति वचनविरोधप्रसङ्गात् । तस्मात्तत्कात्याय नवचनसमानार्थतेव याज्ञवल्कीयस्य । अन्ये पुनरस्य वचनस्य –

> भाषोत्तरिक्रयासाध्यसिद्धिभः क्रमवार्तिभः। आक्षिप्तचतुरंग्रस्तु चतुष्पादभिधीयते॥

इति स्मृत्यन्तरवचनेन समानार्थतां वर्णयन्ति । संप्रतिपत्त्यु त्तरे तु साधनानिर्देशात्, प्रातिज्ञातार्थस्य असाध्यत्वाच न साध्यासिद्धिलक्षणः पादोऽस्तीति द्विपात्मंप्रतिपात्ताप्वाति वचनविरोधोपि नास्तीति च वदन्ति ।
अत्र मते पादक्रमोपि स्मृत्यन्तरे दार्शतः —
भाषापादस्तु तत्राद्यो द्वितीयश्चोत्तरस्तथा ।
क्रियापादस्तथा चान्यः चतुर्थो निर्णयः स्मृतः ॥
इति । इति स्धितजन्द्रिकायां व्यवहारभेदाः

अथ निर्णेतृनिर्णयः

अत्र बृहस्पतिः—

एकस्तुनेकधा पोक्तो व्यवहारो मनीपिभिः। तस्य निर्णयकृदाजा ब्राह्मणश्च वहुश्रुतः॥

इति । ब्राह्मणः प्राड्विवाकाख्यः । तथाच स एव— विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैव च । प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्ततस्तु सः॥

इति । पूर्वोत्तरपक्षौ पृच्छतीति प्राट् । निर्णयं च विशेषेण वक्तीति विवाक इति यौगिकी तस्य संज्ञेसर्थः ।

नारदेनापि ब्राह्मणे वहुश्रुतत्वं प्रपश्चयता विधाना-न्तरेण इयं संज्ञा दर्शिता—

> अष्टाद्रापदाभिज्ञः तद्भेदाष्ट्रसहस्रवित् । आन्त्रोक्षक्यादिकुश्चलः श्रुतिस्मृतिपरायणः ॥ विवादसंश्रुतं धर्म पृच्छति प्रकृतं मतम् । विवेचयति यस्तस्मात्प्राडिवाकस्तु स स्मृतः ॥

इति । एवमुभाभ्यामपि यौगिनयाख्योनसैवाथदिस्य कार्य-मप्युक्तम् ।

उक्तंच साक्षादापि नारदेन-

यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद्यन्त्रयुक्तितः । माड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद्वचवहारतः ॥

इति । ब्राह्मणश्चेति चशब्दो निर्णेत्रन्तरसमुचयार्थः । अत एव मनुः—

> येषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां तृणाम् । धर्म शाश्वतमाश्रित्य कुर्युस्तेषां विनिर्णयम् ॥

इति । येषु स्थानेष्वष्टादशपदेष्विसर्थः । कात्यायनोपि---

सप्राडिवाकस्सामायः सब्राह्मणपुरोहितः। ससभ्यः मेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः॥

इति । प्राडिवाकः पूर्वोक्तलक्षणः तेन सह वर्तमानः सप्राडिन-वाकः । एवं सामाय इत्यादाविप वक्ष्यमाणसङ्ख्यानुसारेण विग्रहः ।

अमात्यस्य पुनर्रुक्षणमुक्तं व्यासेन-

सर्वशास्त्रार्थवेत्तारमलुब्धं न्यायभाषिणम् । विमं प्राज्ञं क्रमायानममासं स्थापयोद्विजम् ॥

इति । सत्यपि विषय्रहणे पुनर्द्विजयहणमुक्तलक्षणान्वितविष्राभावे

तल्लक्षणं क्षत्रियं वैश्यं वाडमात्यं स्थापयेत् । न तु श्र्वमिति दर्शियतुम् ।

यत आह स एव-

द्विजान्विहाय यः पश्येत्कार्याणि वृपेलस्सह ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं वलं कोशं च नश्यति ॥
इति । अमासमिसेकवचनमुपलक्षणमात्रं उद्देश्यगतत्वात्,

मन्त्रज्ञेमीन्त्रभिश्चेव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ।

इति मनुना बहुभिर्मन्त्रिभिस्सह सभाप्रवेशविधानाच । मन्त्र-क्रैरिति विशेषणोपादानं कार्यदर्शनोपयोगिमन्त्रालोचकत्वेन तेषा मस्त्यत्रोपयोग इति प्रतिपादायतुम् । तथा ब्राह्मणेऽपि बहुत्वमुक्तं तेनैव--

व्यवहारदिदक्षुस्तु ब्राह्मणैस्सह पार्थिवः। इति पूर्वीर्धेन । ब्राह्मणैविंद्वद्विरिति शेषः। तथाच याज्ञवल्क्यः---

व्यवहारात्रृषः पश्येद्विद्वद्भित्रीह्मणेस्सह । इति । यद्यप्येषां विद्वत्तया ब्राह्मणत्वबहुत्वाभ्यां सभायां च साधु-त्वेन सर्वेभ्यो न भेदः । तथाऽष्यिनियुक्तत्वेन तेभ्यो भेदो व्यवसेयः । ते हि नियुक्ताः ।

अत एव वसिष्ठः—

नियुक्तो वार्शनयुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तमहीत । देवीं वाचं स वदति यक्कास्त्रमुपजीवति॥

यत्तुनारदेनोक्तम्-

नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारे कथंचन ।
नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वचः ॥

इति । तद्यदृच्छया कार्यान्तरवशाद्या आगतानियुक्तविषयम् । अन्यथा पूर्वोक्तवचनिवरोधात् , ब्राह्मणानां सहायत्वनिर्वाहाय कार्यान्तराक्षेपापत्तेश्च । पुरोहितस्त्तेक एव ।

तथाच व्यासः —

राजा पुरोहितं कुर्यादुदीच्यं त्राह्मणं हितम्। श्रुताध्ययनसम्पन्नमलुब्धं सत्यवादिनम् ॥

इति । एकत्वमत्र विवक्षितं, यूपं च्छिनत्तीतिवदुत्पाद्यगतत्वात् । हितमिति वदन् राज्ञ उच्छृङ्खलप्रवृत्तिर्पष्ट्यादण्ड्येपु पुरोहितेन निवार्येति दर्शयति । अत एव विसष्ठेन राज्ञो दण्डशास्त्रार्थातिक्रमे पुरोहितस्यापि पायाश्चित्तमुक्तम्

"दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्, विरात्रं पुरोहितः। कृच्छ्रं अदण्ड्यदण्डने पुरोहितः, त्रिरात्रं राजा " इति । सभ्याः पुनर्वहवः इति । तथाच नारदः—

राजा तु धार्मिकन् सभ्यान् कुर्वीत सुपरीक्षितान् ।

च्यवहारधुरं वोढुं ये शक्तास्सद्भवा इव ॥

इति । सभ्यान् कुर्वीत व्यवहारद्शेनार्थम् । सभायां स्थितिं

यथा न त्यजन्ति तथाऽर्थदानमानप्रभृत्युपायेन नियुङ्गीतेत्यर्थः ।

च्यवहारधुरं वोढुं के शक्ता इत्यपेक्षिते याज्ञवल्क्यः—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञास्सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्याः रिपौ मित्रे च ये ममाः॥
इति । तेऽपि ब्राह्मणा एव ।
तथा च कात्यायनः—

स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः माज्ञैः मोलैर्द्रिजोत्तमैः। धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः॥

इति । अत्रवर्जनीयानाह वृहस्पतिः—
देशाचारानभिज्ञा ये नास्तिकादशास्त्रवर्जिताः ।
जन्मत्तकुद्धलुब्धार्ताः न प्रष्टव्या विनिर्णये ॥

इति । तथसा क्ष्यानियममप्याह स एव— लोकवेदाङ्गधर्मज्ञाः सप्त पश्च त्रयोपि वा । यत्रोपविष्टा विमास्स्युः सा यज्ञसहशी सभा ॥

इति। अत्र माड्विवाकादीनामर्थार्थितया ऋत्विग्वत्सहायमात्रं, ना धिकारः। अधिकारस्तु व्यवहारदर्शने राज्ञ एवेति मन्तव्यम्। अत एवात्र समाड्विवाक इस्रादिना तस्यैवाप्राधान्येन निर्देशो नेतरेपाम्, फलसम्बन्धोपि तस्यैवोक्तो न त्वन्येपाम्। तथाऽकर-णे दोषः, स्मृतिवलानिसाधिकारोपि राज्ञ एव।

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्रेवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्रोति नरकं चैव गच्छति॥

इति मनुना राज्ञ एव दोषस्मरणात् । अत एव च राजेतरेषां सभामवेशनियमः तेनैव द्रितः—

SMRITI CHA.—VOL. III.

सभा वा न प्रवेष्ट्रच्या वक्तव्यं वा समअसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विपी ॥ राज्ञः पुनस्सभाप्रवेशनियमो वृहस्पतिना दर्शितः-राजा कार्याणि संपद्येत् सद्भिरेव त्रिभिर्वृतः। सभामेव प्रविक्याग्रचामासीनस्थित एव वा ॥ इति। सभ्यैस्त्रिभिरेव वृतो न त्वेकेन द्वाभ्यां वा वृत इत्यर्थः। अतो न प्रागुक्तसभ्यसङ्ख्याविरोधः । अतो राजसूय इव व्यवहारः दर्शने राज्ञ एवाधिकार इति सिद्धम् । राजशब्देन चात्र क्षत्रजातीयो वाऽन्यजातीयो वाऽभिषिक्तो वा अनिभिषिक्तो वा प्रजापरिपालनादिराज्यकर्ता गौणवृत्त्या प्रतिपाद्यते, न पुनः राज्ञः कर्म राज्यमिति शाब्दस्मृतेः, वाहुजजातौ राजशब्दो मुख्य इत्यवेष्टिन्यायाद्राजा राजसूयेनेतिवत् क्षत्रिय एव । आर्याणां मन्वादीनां राजशब्दशयोगो राज्यकर्तिर गौण इस्रवेष्टचिध-करण एवोक्तत्वादत एव वृहस्पतिना नृपतिमात्रस्य सभापवे-शोऽभिहितः —

प्रातरुत्थाय तृपितः शौचं कृत्वा विधानतः।

गुद्धन् ज्योतिर्विदो वैद्यान् देवान्विप्रान्पुरोहितान् ॥

यथाईमेतान् संपूज्य सुपुष्पाभरणाम्बरैः।
अभिवन्द्य च गुर्वादीन् सुमुखः प्रविशेत्सभाम् ॥

इति। अत एव याज्ञवल्क्येनापि ज्यवहारदर्शनं तस्यैव विहितम्
ज्यवहारात्रृपः पश्येदिति । यत्तु प्रजापितनोक्तम्—

राजाऽभिषेकसंयुक्तो ब्राह्मणो वा वहुश्रुतः । धर्मासनगतः पश्येद्वचवहाराननुरुवणः ॥

इति, अनुस्वणः अनुद्धत इसर्थः । एतदपि राज्ञोऽभिषिक्तस्य व्यवहारदर्शनं कर्तव्यमिति विधानार्थं न पुनिरतरस्य प्रतिपेधार्थं, तथात्वे परिसङ्ख्यापत्तेः । अत एवानन्तरमेवोक्तं तेनैव—

> एवं क्षत्रियसामन्ताः स्वदेशेषु पृथक्पृथक् । इतरेषां नृपाणां तु कुर्याद्वाह्मणपुंगवः ॥

इति । धर्मामनगता अनुल्वणास्सन्तः क्षत्रियसामन्ताः व्यव-हारं पश्येयुः । इतरे पुनः नृपाः ब्राह्मणवैश्यादिजातीयाः स्वाधिकारसिद्धये ब्राह्मणश्रेष्टमेव सदा व्यवहारद्रष्टारं कुर्यु-रित्यर्थः । यत्पुनस्तेन—'ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः' इति पक्षान्तर-मुक्तं, तदिष न ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनपरं, किंतु—विनाऽ-पि राज्ञा बहुश्रुतः प्राड्विवाको राजनियोगात् पश्येदित्येवंपरं, ब्राह्मणस्य नास्त्यधिकारो व्यवहारदर्शन इति प्रागेव दार्शत-त्वात् । अत एव विष्णुः—

'व्यवहारदर्शने ब्राह्मणं वा नियुअचात्'

इति । अनेनैवाभिमायेण वृहस्पतिरापि—

राजा कार्याणि संपश्येत् प्राड्विवाकोऽथवा द्विजः ।

न्यायाङ्गान्यग्रतः कृत्वा सभ्यशास्त्रमते स्थितः ॥

इति । एतच पक्षान्तरं यदा नृपतिः स्वयं न पश्यित तदैव ।

तथाच मनुः--

यदा स्वयं न कुर्यातु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियु अचाद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥

इति । विद्वांसं वहुश्रुतिमत्यर्थः । अत एव कात्यायनः —
एकशास्त्रमधीयानो न विद्यात्कार्यनिश्चयम् ।
तस्माद्धहागमः कार्यो विवादेपूत्तमो नृषैः ॥
इति । वहागमग्रहणं गुणान्तरस्यापि प्रदर्शनार्थम् । तथा चो-

क्तम्—

अकूरो मधुरस्मिग्धः क्रमायातो विचक्षणः। उत्साहवानलुब्धश्च वादे योज्यो नृपेण तु ॥

इति । कात्यायनेनापि—

यदा न कुर्यान्तृपतिः स्वयं कार्यविनिर्णयम् ।

तदा तत्र नियुक्षीऽत ब्राह्मणं शास्त्रपारगम् ॥

दक्षं कुलीनमध्यस्थमनुद्देगकरं स्थिरम् ।

परत्रभीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं कोधवर्जितम् ॥

इति। यदा कार्यान्तरिवशेषादिति शेषः। तथाच याज्ञवल्क्यः— अपभ्यता कार्यवशात् व्यवहारात्रृपेण तु । सभ्येस्सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणस्सर्वधर्मवित् ॥ इति । व्यवहारदर्शनात् गुरुतरकार्यान्तरव्यग्रत्वेन व्यवहारानपः

इति छ्यवहारदशनात् गुरुतरकायान्तरच्यप्रत्वन च्यवहारानपः इयता नृपेण सभ्यौस्त्रिभिरेव सह नियोक्तच्यः प्राड्विवाको नामामात्यादिभिस्सहेत्यर्थः। अत एव मनुः— सोऽस्य कार्याणि संपद्येत् सभ्येरेव त्रिभिर्नृतः ।
सभामेव प्रविद्याग्रयामासीनः स्थित एव वा ॥
इति । सभ्येरेवेत्यवधारणमन्यिनवृत्त्यर्थम् । त्रिभिरिति च पञ्चसप्तसङ्घानिवृत्त्यर्थम् । अनेनैवाभिप्रायेण व्यासोपि—
विवादानुगतं दृष्ट्वा ससभ्यस्तं प्रयत्रतः ।
विचारयति येनासौ पाद्विवाकस्ततस्स्मृतः ॥

इति । अत्र कासायनः —

ब्राह्मणो यत्र न स्वातु क्षत्रियं तत्र योजयेत्। वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥

इति । ब्राह्मणो विद्वानिति शेषः । तथाच स एव— यत्र विप्रो न विद्वान् स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैद्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शुद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥

इति । क्षत्रियमित्यत्र विद्वांसमिति विद्वह्नाह्मणस्थाने विधानाद्ग-म्यते । यत्नेनेति वदन्नवर्जने गुर्वी हानिभवतीति दशयति । उदिता च सा मनुना—

यस्य राज्ञस्तु कुरुते श्र्द्रो धर्मविवेचनम् । अस्य सीदिति तद्राष्ट्रं पक्के गौरिव पश्यतः ॥ इति । तेन धर्मशास्त्रज्ञक्षात्रियवैश्ययोरलाभेऽपि श्र्द्रो वर्ज्यः । तथाचतेनैवोक्तम्—

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्वाह्मणबुवः।

धर्मवक्ता तु नृपतेः न तु श्र्द्रःकथंचन ॥ इति । जातिमात्रोपजीवी न विद्यावतोपजीवी । व्यासस्त्वमासादिस्थानेऽपि श्र्द्रपरिग्रहे दोपमाह— द्विजान् विहाय यः पृश्येत् कार्याणि वृषलैस्सह ।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं वलं कोशं च नश्यति ॥ इति । अतस्तदोषपरिहारायामात्यादिस्थानेऽपि गूद्रान्वर्जयेदिस-भिप्रायः । तथा राष्ट्ररञ्जनार्थे राज्ञा कतिपयैर्वणिग्भिरपि सह संसदि स्थातव्यमिसाह कात्यायनः—

कुलशीलवयोवृत्तिवित्तवद्भिरमत्सरैः । विणिग्भिः स्थात्कातिपयैः कुलभूतैरिधिष्ठितम् ॥ इति । कुलभूतैः वृन्दभूतैरिसर्थः । तथा तेषां कार्यमप्याह स एव-

श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्या न्यायदर्शने ॥ इति । तथा राज्ञा गणकलेखकाविष कर्तव्यावित्याह वृह-स्पतिः—

श्रद्धाभिधानतत्त्वज्ञौ गणनाकुशलौ श्रुची । नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ ॥ इति । व्यासोपि—

> तिस्कन्धज्यौतिषाभिक्षं स्फुटमत्ययकारकम् । श्रुताध्ययनसम्पन्नं गणकं योजयेत्रृपः ॥ स्फुटलेखं नियुक्षीत शब्दक्षेपणिकं श्रुचिम् । स्पष्टाक्षरं जितकोधमलुब्वं सत्यवादिनम् ॥

इति । त्रिस्कन्धज्यौतिपाभिज्ञं होरा गणितं संहितेतिस्कन्धत्रयस-हितज्योतिक्शास्त्राभिज्ञमित्यर्थः । श्रुताध्ययनसंपन्नमिति विशेपणं गणकस्य द्विजातित्वख्यापनार्थम् । श्रुद्रादेस्तदसम्भवात् । लेख-कोपि तत्साहचर्याद्विज एव । अत एव साध्यपालस्य द्विजत्वपरि-हारार्थः

साध्यपालस्तु कर्तव्यो राज्ञा साध्यस्य साधकः ।

क्रमायातो दृढदश्दुः सभ्यानां च मते स्थितः ॥

इति शुद्रग्रहणं तेनैव कृतम् । साध्यस्यार्थिमत्यार्थिसाक्ष्यादिनाः

माह्यानकार्यस्येसर्थः । तथाच वृहस्पतिः —

आकारणे रक्षणे च साक्ष्यार्थिमितवादिनाम् ।
सभ्याधीनस्सत्यवादी कर्तव्यस्तु स्वपृरुपः ॥
इति । आकारणमाहानम् । स्वपूरुपः क्रमायातो यस्स सभ्याधी
नः कर्तव्यो राज्ञेयर्थः । एवमेते श्रेष्ठनिर्णयस्थाने मन्वादिभिरुक्ते ।
भृगुणा तु जघन्यान्यपि निर्णयस्थानान्युक्तानि—

दश स्थानानि वादानां पश्च चैवाव्रवीद्भृगः।
निर्णयं येन गच्छन्ति विवादं प्राप्य वादिनः॥
इति। तानि च पश्चद्श स्थानानि तेनैव दर्शितानि—
आरण्यास्तु स्वकैः कुर्युः सार्थिकास्सार्थिकैस्स्मृताः।
सैनिकास्सैनिकैरेव ग्रामेऽप्युभयवासिभिः॥
उभयानुमतं चैव गृह्णते स्थानमीप्सितम्।
कुल्किकास्सार्थमुख्याश्च प्रग्रामनिवासिनः॥

ग्रामपौरगणश्रेण्यः चातुर्विद्यश्च वर्गिणः। कुलानि कुलिकाश्चैव नियुक्ता नृपतिस्तथा॥

इति । अत्राद्यानि पञ्च स्थानान्यारण्यादिजनिवशेषाणामेव । ग्रामाकारेणावस्थिते जनिववादे समीपवासिभिार्निर्णयः । अधिप्र-त्यिधिनोरननुशयानुमतास्थानकुलिकसार्थमुरूयपुरग्रामवासिनो ग्र ह्रते । ग्रामादीनि दश स्थानानि साधारणानि । ग्रामो ग्रा-माकारेणावस्थितो जनः । पौरः पुरवासिनां समृहः । गणः कुलानां समृहः ।

कुलानां हि समूहस्तु गणस्संपरिकीर्तितः ॥ इति कात्यायनस्मरणात् । श्रेण्यो रजकाद्यष्टादशहीनजातयः । चातुर्विद्यः आन्वीक्षक्यादिविद्याचतुष्ट्योपेतः । चातुर्विद्यश्चेति चशब्दो विद्वद्भिः पुरुपान्तरेस्सह चातुर्विद्यस्य समुचयार्थः ।

तस्मान्न वाच्यमेकेन विधिज्ञेनापि धर्मतः।

इति पितामहेनैकस्य धर्मकथननिषेधात् । वर्गिणो गणप्रभृतयः -

गणाः पापण्डपूगाश्च त्राताश्च श्रेणयस्तथा । समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्ग्याख्यास्ते बृहस्पतिः ॥

इति कास्रायनस्मरणात् । वृहस्पतिग्रहणं गणादिविषयेयमा-ख्या पूर्वमेव प्रसिद्धेति दर्शयितुम्। आयुध्धराणां समूहो त्रातः। नानायुध्धरा त्रातास्समवेतास्तु कीर्तिताः।

इति तेनैवोक्तत्वात् । कुलान्यर्थाप्रसियाधनास्सगोत्राणि । कुलि-काः केचनार्थिपसार्थिगोत्रजा दृद्धाः । नियुक्ताः पाद्विवाकसाहि-तास्त्रयस्सभ्याः । नृपतित्रोह्मणादिसाहितः । अत्र वृहस्पतिः ---

मितिष्ठिताऽमितिष्ठता मुद्रिता शास्त्रिता तथा। चतुर्विधा सभा मोक्ता सभ्याश्चेव तथाविधाः॥

इति । आरण्यकादिस्थानत्रये या सभा सा अप्रतिष्ठिता । प्राये-ण देशान्तरगमनयोग्यत्वादुभयवासिप्रभृतिषु दशसु स्थानेषु तद-भावात् प्रतिष्ठिता । नियुक्तस्थानेषुनः मुद्राहस्ताध्यक्षसाहित्या मुद्रिता । नृपस्थाने तु शास्त्रनियन्तुकत्वाच्छास्त्रिता ॥ अयं च सभाविभागस्तेनैव दर्शितः—

> मतिष्ठिता पुरे ग्रामे चला नामाऽमतिष्ठिता। मुद्रिताऽध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता तु शास्त्रिता॥

इति । अध्यक्षः माड्डिवाकः । व्यवहारदर्शनेऽधिकृतत्वात् । त्स्य-च हस्ते राज्ञा स्वमुद्रा प्रतिवाद्यानयनार्थदेयेयत एवावगम्यते । तत्र मतिष्ठिता अप्रतिष्ठिता च सभा निर्णयार्थिभिरेव पा-र्थनार्थ दानमाननादिभिः कार्या । शास्त्रप्युक्तचा नृपतिप्रयु-क्तचभावात् सभासिद्धभावात् । मुद्रिता शास्त्रिता च स्वाधि-कारवशाद्राज्ञैव क्रियते , तेन तत्र निर्णयार्थिनां तत्समीपगम-नमेव न सभाकरणम् ॥

अत्र च शास्त्रितसभायां सभान्तरेभ्यः पावल्यमाह पितामहः—

पूर्वस्थानगता वादाः धर्मतोऽधर्मतोऽपि वा । नृपस्थानं समाश्रित्य पूर्ववादं भजन्ति ते ॥ Smriti Cha.—Vol. III इति । पूर्ववादं पूर्वपक्षमित्यर्थः । नृपस्थानग्रहणं प्रवलस्थानोप -लक्षणार्थम् ॥ यतस्स एवाह—

ग्रामे दृष्टः पुरं यायात् पुरे दृष्टस्तु राजानि ।
राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥
इति । नारदोऽपि—

कुलानि श्रेणयश्चैत्र गणाश्चाधिकृतो नृपः । मतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेषामुत्तरोत्तरम् ॥ इति स्स्तिचन्द्रिकायां निर्णेतिनिर्णयः

अथ धर्मस्थाने अवस्थानम्

तत्र कासायनः---

धर्मशास्त्रविचारेण मूलसारविवेचनम् । यत्राधिकियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत् ॥

यत्र स्थाने मूल्रस्यावेदितस्य सार्विवेचनं तत्र निष्कर्षो धर्मशास्त्र । विचारेण निर्णेतृभिरिधिक्रियते प्रस्तूयते, तत् स्थानं धर्मशास्त्र र- धिक्रियते । मूलसार्विवेचनमत्रेति च्युत्पत्त्या धर्मधिकरणिमति । हिः प्रसिद्धचर्थः । एतच धर्माधिकरणं प्राच्यां दिशि कार्यम् । तथाच शङ्घः —

'धर्मस्थानं प्राच्यां दिशि तच्चाग्न्युद्कैस्समवेतं स्थात्' इति। प्राच्यां दिशि राजमन्दिरादिति शेषः । अत एव वृहस्पतिः— दुर्गमध्ये गृहं कुर्यात् जलमध्योच्छितं पृथु । पाग्दिशि पाङ्माखीं तस्य लक्षण्यां करुपयेत्सभाम् ॥ मारुयधूपासनोपेतां वीजरत्नसमन्विताम् । प्रतिमालेख्यदेवैश्र युक्तामग्रचम्बुना तथा॥

इति । एवं कल्पितां प्रातर्हुत्वा प्रविशेत् । तथा च मनुः— उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचस्समाहितः। हुत्वाऽग्निं त्राह्मणानच्ये प्रविशेद्वै शुभां सभाम्।।

अत्राच्येंत्यसमासेऽपि त्वापत्ययस्य ल्यवादेशक्छान्दसत्वादावि-रुद्धः । प्रविशेत्रृपतिरिति शेषः । अत एव वृहस्पतिः—

पातरुतथाय नृपितः शौचं कृत्वा समाहितः।
गुरून् ज्योतिार्वदो वैद्यान् देवान् विप्रान् पुरोहितान्॥
यथार्हमेतान् संपूज्य सुपुष्पाभरणाम्बरैः।
अभिवाद्य च गुर्वादीन् सुमुखः प्रविशेत्सभाम्॥

अत्र नृपतिः प्रविशेदिसन्वयः । पुरोहितानिति वहुवचनं पाशा-नितिवत् कर्मत्वमात्रस्याभिधायकं, न तु वहुत्वस्यापि, पुरोहि-तस्यैकत्वात् । नृपतिरापि त्राह्मणादिसहितः प्रविशेत् । तथाच मनुः—

> व्यवहारदिदक्षुस्तु ब्राह्मणैस्सह पाधिवः । मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चेव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥

¹ भुक्ताऽन्नं.

इति। चशब्दोत्र प्राड्विवाकपुरोहितसभ्यविणग्गणकलेखकसाध्यपाक्त लिए विद्यासी प्राप्त कि हिरण्यधर्मशास्त्रैरिप सहेति ज्ञापनार्थः । तेपामिप ब्राह्मणादिवत् दर्शनोपयोगित्वात् । तत्र केषांचिदुपयोगो निर्णेतृनिर्णये दिश्वतः। अत्र केषांचिदुपयोगो विशेषमाह संवर्तः—

लोकपालान्नमस्कृत्य प्राविश्य विपुलां सभाम् । प्रजानां रक्षणं कुर्यान्तृपतिः कार्यदर्शने ॥

निमित्तार्थे चेयं सप्तमी । कार्यद्शनक्ष्पानिमित्तेन प्रजारक्षणं कुर्यादित्यर्थः । निमित्तत्वं च तस्य प्रजारक्षणोपयोगिदुष्टप-रिज्ञानहेतुत्वेन परम्पर्या द्रष्टव्यम् ॥ एवं सभाप्रविष्टानामर्थसिद्धोपवेशनमन् केषाश्चिहिङ्कियममाह बृहस्पतिः—

पूर्वामुखस्तूपीवशेद्राजा सभ्या उद्झुखाः ।
गणकः पश्चिमास्यस्तु लेखको दक्षिणामुखः ॥
हिरण्यमग्निमुदकं धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
तन्मध्ये स्थापयेद्राजा पुण्यानि च हितानि च ॥

इति । अन्येषां पुनर्यथासौकर्यमुपवेशनम् । नियमाभावात् । एवं राजादिभिदेशभिब्यवहारसाधकाङ्गरध्यासिता सभा यज्ञ-समेखाह स एव—

> नृपाधिकृतसभ्याश्च स्मृतिर्गणकलेखकौ । हेमाग्रचम्बुखपुरुपास्माधनाङ्गानि वै दश ॥

एतद्दशाङ्गं करणं यस्त्रामध्यास्य पार्थिवः ।
न्यायात्पश्येत्कतमितः सा समाऽध्वरसंमिता ॥
अधिकृतः प्राद्विवाकः खपुरुपस्साध्यपालः । साधनाङ्गानां कार्यमप्याह स एव—

दशानामि चैतेषां कर्म प्रोक्तं पृथक्पृथक ।

वक्ताऽध्यक्षो नृपक्कास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः ।

स्मृतिर्विनिर्णयं बूते जयं दानं दमं तथा ॥

शपथार्थे हिरण्यात्री तृषितक्षुब्धयोः जलम् ।

गणको गणयेद्थं लिखेन्नचायं च लेखकः ॥

प्रसार्थसभ्यानयनं साक्षिणां च स्वप्रुष्पः । कुर्यादलप्रकौ रक्षेद्धिमत्यर्थिनौ तदा ॥

वक्ताऽध्यक्ष इस्रेतत्प्रकर्षाभिष्रायेण । 'सभ्यादिनाऽपि धर्म-क्रेनावश्यं वक्तव्यम्' इति वसिष्ठेनोक्तत् । तृपश्शास्तेसेत-द्प्यर्थवधदण्डकारित्वाभिष्रायेण । 'वाग्दण्डधिग्दण्डाभ्यां शासनं पाड्विवाकेन कार्यम्' इति तेनेवाभिष्यानात् । तथाच- 'तस्य निर्णयकृद्राजा ब्राह्मणंश्च बहुश्रुतः' इत्यभिधायाभिहितम्—

> वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव प्रायश्चित्तावुभौ स्मृतौ। अर्थदण्डवधावुक्तो राजायत्तावुभावि।।

इति । प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितसभ्यानां तु धर्मस्थाने विशेषविध्य-भावादनियत एव ! शुभे स्थान उपविश्य विनिर्णयमात्रं कृत्वा तैरुपरन्तन्यम् । दण्डदापनेऽर्थदापने वा तेषां आधिकाराभावात्। साहसविवादे तु तैर्निर्णमात्रमपि न कार्यम् । अत आह वृहस्पतिः —

> राज्ञा ये विदितास्सम्यकुलश्रेणीगणादयः। साहसन्यायवजर्चानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्॥

इति । मुद्रिता तु सभा ब्रह्मसभातुल्येसाह मनुः—-यस्मिन् देशे निपीन्दन्ति विप्रा वेदविदस्रयः । राज्ञश्च प्रकृतो विद्यान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥

प्रकृतोऽधिक्कतः प्राड्विवाक इति यावत् । सभ्येषुष्यर्थ्यादिरञ्जक-स्सभास्तारोऽखिललोकश्चाव्यो भवतीसाह व्यासः—

> अधिमत्यर्थिनौ सभ्यान् लेखकं प्रेक्षकांश्च यः । धर्म्यवाक्यै रञ्जयति स सभ्यदश्काघ्यतामियात्॥

तथा विवादिनां संशयहन्ता सभ्यस्तेषां प्राणद इसाह स एव—
परस्परविसंवादं सन्देहात् कुर्वतो नरान् ।
यस्तेषां संशयन्छेत्ता स सभ्यः प्राणदः स्मृतः ॥

नरान्विवादतो निवार्येति शेषः ।

भाणदस्य फलमाह वासिष्ठः—

यत्पुण्यमुद्धते विमे भ्रियमाणे जलाशयात् । तत्पुण्यं संशयारूढे व्यवहारात्समुद्धते ॥ भ्रियमाण इति दार्षान्तिकेऽप्यनुषज्यते ।

तथा सभ्यविशेषे फलविशेषमाह बृहस्पतिः— अज्ञानातिमिरोपेतान् सन्देहपटलान्वितान् । निरामयान् यः कुरुते शास्त्राञ्जनशलाकया ॥ इह कीर्ति राजपूजां लभते स्वर्गतिं च सः। लोभद्रेपादिकं त्यक्ता यः कुर्यात्कार्यनिर्णयम् । शास्त्रोदितेन विधिना तस्य यज्ञफलं भवेत् ॥ ये पुनः शास्त्रोदितविधिमतिकम्य निर्णयं कुर्युः तेषां दोषमाह कात्यायनः---न्यायशास्त्रमतिकम्य सभ्यैर्यत्र विनिश्चितम् । तत्र धर्मो ह्यधर्मेण हतो हन्ति न संशयः॥ तथा अन्यायप्रवृत्तनृष्ट्यनिवारणेऽपि दोपस्तेनैव दर्शितः— अधर्मतः प्रवृत्तं तु नोपेक्षेरन् सभासदः । उपेक्षमाणास्तन् पाः नरकं यान्यधोप्रस्वाः ॥ अतस्तत्र तद्नुसरणं सभासाद्धिर्न कार्यमिखाह स एव-अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः ।

तेऽपि तद्गागिनंस्तस्मात् वोधनीयक्क्षनेर्नुपः ॥

शनैरिति वचनात्तदैव तत्प्रतिकूलवोधनं न पापभयात् कार्यम् ।

किन्तु सित कालान्तरे । अत एवोक्तं तेनैव—

न्यायमार्गादपेतं तु ज्ञात्वा चित्तं महीपतेः ।

वक्तव्यं तत्थियं तत्र न सभ्यः किल्विषी मतः ॥

इति । मनुस्तुन्यायेन निर्णीयमाने प्रतिपेधमकुर्वतामपि सभ्यानां-दोपमाह—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण ससं चैवानृते न वा ।
हन्यते पेक्षमणानां हतास्तत्र सभासदः ॥
पेक्षमाणानामित्यनादरे पष्ठी ।
अथ कांश्चित्सभ्याननाद्दय धर्मानिर्णेतॄणां सभ्यानामि दोपस्तेनैव दर्शितः—

धर्मी विद्धस्त्वधर्मेण सभा यत्रापितप्रति । शल्यं चास्य न क्रन्तन्ति हतास्तत्र सभासदः ॥ शल्यानिक्रन्तनं सर्वसभ्यसंमत्यभावेऽपि निश्चयः । तथा च नारदः—

यत्र सभ्यो जनस्मर्वः साध्वेतिदिति मन्यते ।

स निक्शस्यो विवादस्स्यात्सशस्यस्यादतोऽन्यथा ॥

अत आत्मरक्षणार्थं सर्वधा धर्मो न हन्तन्य इत्याह मनुः—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षिति रिक्षितः ।

तस्माद्धमी न हन्तन्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥

तथा वृपलवपरिहारार्थमिप धर्माप्रतिहतिः कार्येत्याह स एव—

वृपो हि भगवान् धर्मः तस्य यः कुरुते वल्लम् ।

वृपलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धमी न लोपयेत् ॥

अलं वारणम् । हारोतस्तु वृपलस्य नरकमाह—

अन्धो मत्स्यानिवाश्चाति निरपेक्षः सकण्टकान् ।

परोक्षमर्थं वैकल्यात् भाषते यस्सभागतः ॥ इति । अत्र नारदः—

तस्मात्सभ्यस्सभां प्राप्य रागद्वेपविवर्शितः । वचस्तथाविधं वूयात् यथा न नरकं त्रजेत् ॥

कीदृश्विधं वचो नरकशिरहारार्थं वाच्यमियत आह स एव— शुद्धेषु व्यवहारेषु शुद्धिं यान्ति सभासदः। शुद्धिश्च धर्मात्तेषां हि धर्ममेव वदेत्ततः॥

तेषां व्यवहाराणाम् । कात्यायनोऽपि—
सभ्येनावश्यवक्तव्यं धर्मार्थसहितं वचः ।
शृणोति यदि नो राजा स्यात्तु सभ्यस्ततोऽनवः ॥

अर्थसहितमर्थशास्त्रमर्थोपेतम् । मनुरापि-

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते हि सभासदः । एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ सभा वा न भवेष्टव्या वक्तव्यं वा समक्षसम् । अब्रुवन्विद्युवन्वाऽपि नरो भवति किल्विपी ॥

यत्पुनस्तेनोक्तम्-

सत्यं त्रूयात् त्रियं व्रूयात् न व्रूयात्सत्यमिषयम् ।

इति तिन्निर्णेतृच्यतिरिक्तविषयम् । तत्र पक्षपातेनािषयोक्तिरिष
कार्येवेत्युक्तत्वात् । एवं हिताहितशाप्तिपरिहारोपायोपदर्शनेऽपि
योऽसन्तोत्कटरागादिवशात् सभ्यस्स्मृत्याचारिवरुदं वादनि
SMRITI CHA.—Vol. III

र्णयं विद्धाति तस्य दण्डमाह नारदः—

रागादज्ञानतो वाऽपि यो लोभादन्यथा वदेत् ।

सभ्योऽसभ्यस्स विज्ञेयः तं पापं विनयेद्वृशम् ॥
कात्यायनोऽपि—

स्तेहादज्ञानतो वाऽपि मोहाद्वा लोभतोपि वा ।
तत्र सभ्योऽन्यथावादी दण्ड्योऽसभ्यस्स्मृतो हि सः
स्तेहो रागः।मोहः विपरीतज्ञानम्। अत्र रागलोभवज्ञात् भयाद्वा
अन्यथावादी विवादपराजयानवन्धनदमाद्विगुणं दमं दण्ड्य
इसाह याज्ञवल्क्यः—

रागाञ्चोभाद्मयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः।
सभ्याः पृथकपृथग्दण्ड्याः विवादाद्विगुणं दमम्॥
विवादे यो दमो भवति पराजये तद्विगुणं दाप्य इति वहुव्याख्यातृसंमतोऽथीं ग्राह्यः, न पुनर्विवादास्पदीभूताद्रव्याद्विगुणमिति कस्यचिद्वचाख्यातुर्भः अयुक्तत्वात्। अयुक्तत्वं च वहुव्याख्यातृभिरुक्तं, विस्तरभयान्नोच्यते। एवं मोहवशाद्य्यन्यथावादिनो दण्ड्या इत्याह कायायनः—

कार्यस्य निर्णयं सम्यक् ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत् । अन्यथा नैव वक्तब्यं वक्ता द्विगुणदण्डभाक् ॥ अज्ञानकोधवशादन्यथा वादिनस्तु विशेषोक्तचभावात् सामान्ये-न सभ्यसम्बन्धितया वृहस्पत्युक्तं तत्र व्यवतिष्ठते— अन्यायवादिनस्सभ्यास्तथैवोत्कोचजीविनः । विश्वस्तवश्वकाश्चैव निर्वास्थास्सर्व एव ते ॥ इति । उत्कोचर्जीविन इत्येतत्सभ्येतरविषयम् ।

'कूटसाक्षिणां सर्वस्थापहारः, उत्को चजीविनां सभ्यानां च' इति विष्णुना सभ्यविषये सर्वस्थापहारस्योक्तत्वात् । यतु कैश्वि-दज्ञानादिनाऽन्यथावादे 'मोहात्सहस्रं दण्ड्यस्तु' इसादिमनुव-चनोक्तद्विश्वतादिदण्डवैचित्र्यमुक्तं तद्याज्ञवल्क्यवचनतो रागादा-वेव द्विगुणो दम इति नियमाद्ज्ञानादौ दण्डान्तरं मृग्यमित्येवंपरं, न पुनमनुवचनवलेन द्विशतादिदण्डप्रतिपादनार्थम् ।

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये मोक्तान् दण्डान् मनीपिणः ।

इत्युपसंहारतो मनुवचनस्य साक्ष्यपराधविषयत्वात् । तस्माद-ज्ञानादौ वार्हस्पत्यवचनविहितो दमः सभ्यविषये त्वनुसं-धेयः । प्राङ्विवाकस्सभ्या वा व्यवहारनिर्णयात् पूर्वं विजनेऽ-थिना सह संभाषणमात्रादिष दण्ड्या इस्राह कात्यायनः-

अनिर्णीते तु यद्यथें संभाषेत रहोधिना ।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यस्त्यात् सभ्याश्चेत्र न संशयः ॥
निर्णयाद्र्ध्वं सभ्यदोपपिरज्ञाने तु दमं दाप्य इत्याह स एव—
सभ्यदोपानु यन्नष्टं देयं सभ्येन तत्तदा ।

कार्य तु कार्यिणामेव निश्चितं न विचालयेत् ॥ दुष्टसभ्येनापि निर्णातं कार्य न परावर्तयेत्, किंतु दौष्टचात् नष्टं दापयेदित्यर्थः । सभ्यदोपानाह नारदः— एते सम्यास्सभां गत्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथाप्राप्तं न चेद्चुः सर्वे तेऽनृतवादिनः ॥
प्राप्तं युक्तमिसर्यः। तथा—
न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः
न से न वदान्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां धर्मस्थानेऽवस्थानम् .

अथ द्र्शनविधिः

तत्र कात्यायनः —

विनीतवेषो तृपितः सभा गत्वा समाहितः । आसीनः प्राङ्मुखस्थित्वा पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् । सह त्रैविद्यदृद्धैश्च मन्त्रज्ञैश्चैव मन्त्रिभिः॥ अत्रासनस्थित्योः युगपत्कर्तुमशक्यत्वाद्विकल्पः । अत एव मनुः-

तत्रासीनिस्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेपाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥
अयं चासनिस्थित्योर्विकल्पः शयनचङ्कमणिनपेधार्थः । 'दक्षिणं पाणिमुद्यम्य' इति प्रावरणार्थं वस्त्रमप्युपवीतवदेव ब्राह्मणसभायां धार्यमिति नियमार्थम् । तथाच रमृत्यन्तरम्—'ब्राह्मणानां तु संसदि' इति, 'दक्षिणं वाहुमुद्धरेत्' इति । 'विनीतवेषाभरणः' इत्यौद्धत्यिनपेधार्थम् । तथाच प्रजापतिः—

राजाऽभिषेकसंयुक्तो ब्राह्मणो वा वहुश्रुतः । धर्मासनगतः पश्येद्वचवहाराननुरुवणः ॥ अनुरुवणोऽनुद्धतः, उरुवणग्रहणं मत्सरस्यापि प्रदर्शनार्थम् । तथाच नारदः—

तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः ।
समस्चात्सर्वभूतेषु विश्वद्वैवस्वतं व्रतम् ॥
वैवस्वतं व्रतं यमव्रतम् । तच्च तेनैव दर्शितम्—
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥
याज्ञवल्क्योपि—

तसाद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा मियामिये।
वर्तते धर्म्यया वृत्त्या जितकोधो जितेन्द्रियः॥
क्रोधग्रहणं लोभस्यापि पदर्शनार्थम् । तथाच स एव—
व्यवहारात्रृपः पश्येद्विद्वद्विद्वाद्वाणैस्सह ।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवार्जतः॥
धर्मशास्त्रानुसारेणेत्येतदौशनसाद्यर्थशास्त्रानुसारस्य निवृत्तचर्थं,
न पुनर्धमशास्त्रान्तर्गतराजनीत्याद्यर्थशास्त्रानुसरणस्यापि, यत
आह नारदः—

धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन पार्थिवः । समीक्षमाणो निपुणं व्यवहारगतिं नयेत् ॥ धर्मशास्त्राणि च पितामहेन दर्शितानि— वेदास्साङ्गास्तु चत्वारो मीमांसा स्मृतयस्तथा ।
एतानि धर्मशास्त्राणि पुराणं न्यायदर्शनम् ॥
प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिर्थप्रधानत्वादर्थशास्त्रतयाऽभिप्रेता,
सा च भविष्यत्पुराणे दर्शिता—

पाङ्गुण्यस्य प्रयोगश्चाप्रयोगः कार्यगौरवात् ।
सामादीनामुपायानां योगो व्याससमासतः ॥
अध्यक्षाणां च निक्षेपः कण्टकानां निरूपणम् ।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडाग्रज ॥

इति । दृष्टार्थायाः स्मृतेरुदाहरणमात्रमेतत् । एवंच सन्धिविग्र-हादिदृष्टार्थविषया स्मृतिरर्थशास्त्रमित्यर्थः । एतच्चोभयविधशा-स्त्रानुसरणं तयोः मिथो विरोधाभाव एव । तथाच नारदः—

> यत्र विप्रतिपत्तिस्स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः । अर्थशास्त्रोक्तमुत्सुज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

अतो यत्रैकस्य जयेऽवधार्यमाणेऽर्थशास्त्रोक्तामित्रलब्धिर्धर्मशास्त्रोक्तमार्गविरोधेन भवति तत्र मित्रलब्धिविरोधेनापरस्यैव जयाव-धारणं कार्यम् । यत्र पुनर्धर्मस्मृत्योर्विरोधस्तत्रोक्तं याज्ञव-लक्येन—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु वलवान् व्यवहारतः। इति । श्रुतिमुल्लस्मृस्योर्विरोधे वृद्धव्यवहारावगतसावकाशनिरव-काशस्वादितर्कवलेन यथा व्यवस्थितविषयता तयोर्ज्ञीयते तथा गृहीतव्यामित्यर्थः । एवमविरोधेऽपि न्यायावधारितशास्त्रार्थस्यै-वानुसरणं कार्यमित्याह वृहस्पतिः —

केवलं शास्त्रमाश्रिस न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीने विचारे तु धमहानिः प्रजायते ॥
अतस्तर्कानुग्रहीतमेव शास्त्रार्थमाश्रित्य निर्णेतव्यामित्यर्थादुक्तं
भवति । उक्तं च गौतमेन—

'न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः, तेनाभ्यूद्य यथास्थानं गमयेत्' न्यायाधिगमो धर्माधिगम इत्यर्थः । तथाच स्टयन्तरम् — यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः ।

इति । अतो न सहसा निश्चिनुयादियाह पितामहः — असत्यास्सत्यसङ्काशास्सत्याश्चासत्यसान्नेभाः । हश्यन्ते भ्रान्तिजनकास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥ नारदोपि—

तलवहृत्रयते व्योम खद्योतो ह्व्यवाहिव ।
न तलं विद्यते व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः ॥
तस्मात्मसक्षद्रष्टेऽपि युक्तमर्थात्परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान् न धर्मात् परिहीयते ॥
यात्यचोरोपि चोरत्वं चोरश्चायासचोरताम् ।
अचोरश्चोरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः ॥
सक्ष्मो हि भगवान् धर्मो दुष्पेक्षो दुर्विचारणः ।
अतः प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहारगतिं नयेत् ॥

तलमवनितलं, व्यवहारतः व्यवहाराख्यनिर्णयविशेषे इत्यर्थः। मत्यक्षमार्गः स्पष्टमार्गः। मनुरपि—

यथा नयत्यसक्पातैः मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य तृपतिः पदम्॥
बाह्येविभावयेछिङ्गैर्भावमन्तर्गतं तृणाम्।
स्वरवर्णोङ्गिताकारैश्रक्षुपा चेष्टितेन च॥
याज्ञवल्क्योपि—

असाक्षिके हते चिक्वैयुक्तिभिश्चागमेन च ।

द्रष्ट्रच्यो च्यवहारस्तु कूटचिह्नकृताद्भयात् ॥

असाक्षिकहतविषये न क्षतादिचिह्नदर्शनमात्रेण निश्चिनुयात्,
कृत्रिमक्षतादिसंभवात् । किंतु युक्तचादिभिः परीक्षणीयमित्यर्थः।
तथाच नारदः —

कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनश्चिहं द्वेषात्परमुपद्रवेत् ।
युक्तिहेत्वर्थसम्बन्धेस्तत्र युक्तं परीक्षणम् ॥
चिह्नं व्रणादि । युक्तिरथीपत्तिः । हेतुरनुमानम् । अर्थः प्रयोजनम् ।
सम्बन्धस्सन्निधिः, पूर्वकलहो वा । परीक्षणं भूतेन व्यवहारनयनार्थम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारास्त्रयेत्रृपः ।
भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥
लिखितादिममाणस्य यथार्थानुसारित्वनियमाभावाद्वादिप्रतिवाद्यनुपन्यस्तं परमार्थतो विद्यमानमापि व्यवहारवशाद्धीयते । यत

एव तेन प्रयत्नतो भूतानुसरणं कार्यामित्यर्थः । नारदोऽपि— न तु शिष्टं छलं राजा मर्पयेद्धर्मसाधनः । भूतमेव पपद्येत धर्ममूला यतिक्जूयः ॥

शिष्टं आर्थमत्यांथाभिराभाहितम् । नात्र जलपर्मागवत् पुरुपप्रतिभा अन्वेषणीया , किंतु तत्त्वानुसरणं सित संभवे कार्यमिति तात्पयार्थः । यदा तु सर्वदा भूतानुसरणं न शक्यते कर्तु तदा छला नुसारेणापि साक्ष्यादिप्रमाणाधीनो निर्णयः कार्य एव । तथाच तेनैवोक्तम्—

भूतच्छलानुसारित्वात् द्विगतिस्समुदाहता । इति । गौतमेनाप्युक्तम्—

'विप्रतिपत्तौ साक्षिनिभित्ता सत्यव्यवस्था'

इति । साक्षिनिभित्तेति प्रमाणोपलक्षणार्थम् । अत एव मनुः— पयहं देशदृष्टेश्च शास्त्रदृष्टेश्च हेतुभिः ।

अष्टादशसु मार्गेषु निवन्धानि पृथक्पृथक् ॥

देशहष्टैः तत्तदेशव्यवस्थितधर्माचारैः शास्त्रप्रसिद्धैः साक्षिद्रव्यादि-हृष्टादिप्रमाणैः प्रत्यहं ऋणादानाद्यष्टादशपदेपु पृथक्षृथक् निवन्धानि कार्याणि पश्येदिसर्थः । तत्र शास्त्रहृष्टानामभावे देशहष्टैर्द्रष्ट्व्यम् । तथाच कास्रायनः—

> अस्वर्ग्यलोकनाशाय परानीकभयावहा । आयुर्वीर्यहरा राज्ञः स्रति वाक्ये स्वयं कृतिः ॥ तस्माच्छास्नानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत् । SMRITI CHA.—Vol. III.

वाक्याभावेषु सर्वेषां देशदृष्टं मतं नयेत् ॥ इति । परानीकभयावहा परसैन्यतो भीत्युत्पादिका । वाक्यं शास्त्रम् । देशदृष्ट्य स्रक्षणमप्याह स एव—

> यस्य देशस्य यो धर्मः पृष्टत्तस्सार्वकालिकः । श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टस्स उच्यते ॥

स च राज्ञा पुस्तके निवेशितव्य इत्याह स एव—
देशस्थानुमतेनैव व्यवस्था या निरूपिता।
लिखिता तु सदा धार्या मुद्रिता राजमुद्रया॥
शास्त्रवद्यत्नतो रक्ष्या तां निरीक्ष्य विनिर्णयेत्।

इति । तामिति कुलाद्यनुमताया अपि व्यवस्थायाः पदर्शः नार्थम् । अत एव पितामहः—

> यद्यदाचरित श्रेष्ठो धर्म्य वा धर्म्यमेव वा । कुलादिदेशाचरणाचरित्रं तत्प्रकीर्तितम् ॥ ग्रामगोष्ठपुरश्रेणीसार्थसेनानिवासिनाम् । व्यवहारश्चरित्रेण निर्णेतव्यो वृहस्पातिः॥

ग्रामादिनिवासिनां मिथोविवाद्विपयमेतत् । अन्यैस्सह तेपां विवादे तु शास्त्रदृष्टेरेव निर्णेतव्यम् । तथाच स एव—

देशपत्तनगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वासिनाम् । तेषां स्वसमयैर्धर्मशास्त्रतोऽन्येषु तैस्सह ॥

इति । यत्र चैते हेतवो न विद्यन्ते तत्र पार्थिववचनान्निर्णय इसाह स एव- लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिने च साक्षिणः।
न च दिव्यावतारोशस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः।।
निश्चेतुं ये न शक्यास्त्युर्वादास्संदिग्धरूपिणः।
तेषां नृषः प्रमाणं स्थात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥

इति । अत्र हारीतः—

धर्मशास्त्रार्थशास्त्रोक्तिव्शिष्टाचारादिलक्षणः।
छलेन च व्यपेतो यो व्यवहारस्स धार्मिकः॥

धार्मिको धर्मादनपेतः। एवं पश्यतो तृपतेः फलमाह नारदः—

धर्मेणोद्धरतो राज्ञो व्यवहारान् कृतात्मनः। सभ्भवन्ति गुणास्सप्त सप्त वहेरिवाचिपः॥

वहेस्सप्तार्चिष इव सप्त गुणास्सभ्भवन्तीत्यर्थः । तान् गुणानाह स एव—

धर्मश्रार्थश्च कीर्तिश्च लोकपिक्तरपग्रहः।
प्रजाभ्यो वहुमानश्च स्वर्गस्थानं च शाश्वतम्॥
लोकपिक्तलेंकानुरागः। उपग्रह आश्रयणीयत्वम्।
निग्रहेण च पापानां साधूनां सङ्ग्रहेण च॥
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः॥
याज्ञवल्क्योपि---

यो दण्ड्यान् दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् । इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन सहस्रशतद्क्षिणैः ॥

इति संचिन्स नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् । व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥ अन्वहमित्येतचतुर्देश्यादिव्यतिरिक्ताहविषयम् । तथा च संवर्तः-चतुर्दशी ह्यमावास्या पौर्णमासी तथाऽष्ट्रमी। तिथिष्वासु न पश्येतु व्यवहारांस्तु नित्यशः॥

आभ्योऽन्यास्वपि तिथिष्वावर्तनान् पूर्वमेव । तथा

वृहस्पातिः---

पूर्वाह्ने तामधिष्ठाय वृद्धामासानुजीविभिः। पद्येत्पुराणधर्मार्थशास्त्राणि जृणुयात्तथा । राजा कार्याणि संपद्येत् सभ्येरेव त्रिभिर्द्यतः ॥ इति । तामुक्तस्रः णां सभामित्यर्थः । पूर्वोक्वेऽप्याद्यघटिकाचतुष्ट्या-दूर्ध्वमेव, तस्याग्रिहोत्राद्यर्थत्वात् । अत एव कात्यायनः—

स कालो व्यवहाराणां शास्त्रदृष्टः परं स्मृतः ॥ इति । अस्मिन् भागत्रयपरिमिते काले सततं पश्येत् । तथाच पितामहः---

आद्यादहोऽष्ट्रभागाद्यदृध्वं भागत्रयं भवेत् ।

लेखको गणकश्चास्त्रं साध्यपालस्सभासदः। हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गं करणं स्मृतम् ॥ तद्ध्यास्यानिशं पश्येत् पौरैः कार्य निवेदितम्। पौरप्रहणं स्वराष्ट्रगताखिलजनोपलक्षणार्थम् । तथाच मनुः— तत्र स्थितः प्रजास्सर्वाः प्रतिनन्द विसर्जयेत् । तत्र सभायामित्यर्थः । प्रजास्त्रापे स्तयं विवादमुत्पाद्य दर्शनं न कार्यम् । तथाच पितामहः—

न तु पश्येत्समुत्पेक्ष्य स्वयं वा पुरुषेण वा ।
पुरुषेण वेति राजपेरितस्य पुरुषोत्प्रेक्षितस्य प्रतिपेधोऽयं, न पुनः
पुरुषमात्रोत्प्रेक्षितस्य । तथात्वेऽधिंतत्सम्वान्धिपुरुषोत्प्रोक्षितस्यापि
व्यवहारदर्शनमेव प्रतिषिद्धं स्वात् । अत एव मनुना पुरुषो
विशेषितः—

नोत्पादयेत् स्थयं कार्यं राजा नाष्यस्य पूरुषः ।
इति । अविवादिनां नराणामिति शेषः । तथाच नारदः—
न तु राजा विशत्वेन धनलोभेन वा पुनः ।
उत्पादयेतु कार्याणि नराणामविवादिनाम् ॥

कार्याणि विवादानीत्यर्थः । तथा प्रजाभ्य एवोत्पन्नमिष कार्ये कार्यिणा तत्सम्बन्धिना वा अनिवेदितं कथंचिदव-गम्य न ग्राह्यामिस्राह मनुः—

न चाप्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथंचन । इति । अप्रापितमनावेदितं कथंचन रागादिनेत्यर्थः । अत एव पितामहः—

> न रागेण न लोभेन न क्रोधेन ग्रसत्रृपः। परैरपापितानर्थान् न चापि स्वमनीपया ॥

> पथिभङ्गी कराक्षेपी पाकारोपरि लङ्घकः। निपानस्य विनाशी च तथा चायतनस्य च ॥ परिघापूरकश्रैव राजच्छिद्रमकाशकः । अन्तःपुरं वासगृहं भाण्डागारं महानसम् ॥ पविशत्यनियुक्तो यो भाजनं च निरीक्षते । विण्मूत्रश्लेष्मवातानां क्षेप्तुकामो नृपाग्रतः ॥ पर्यङ्कासनवन्धा चाप्यग्रस्थाननिरोधकः। राज्ञोऽतिरिक्तवेषश्च विधृतः प्रविशेतु यः ॥ यश्चापद्वारेण विशेदवेलायां तथैव च। शय्यासने पाद्के च शयनासनरोहणम् ॥ राजन्यासन्नशयने यस्तिष्ठति समीपतः। राज्ञो विद्विष्टसेवी वाडप्यदत्तविहितासनः ॥ वस्ताभरणयोश्चेव सुवर्णपरिधायकः। खयंग्राहेण ताम्बूलं गृहीत्वा भक्षयेतु यः॥ अनियुक्तप्रभाषी च नृपाक्रोशक एव च। एकवासास्तथाऽभ्यक्तः मुक्तकेशोऽवकुण्ठितः ॥ विचित्रिताङ्गस्त्रग्वी च परिधानविधूनकः।

शिरःप्रच्छादनश्चैव छिद्रान्वेपणतत्परः ॥ आसङ्गी मुक्तकेशश्च यश्च कर्णाक्षिकर्शकः । दन्तोञ्छेखनकश्चैव कर्णनासाविशोधकः ॥ छल्ठान्येतानि पञ्चाशत् भवन्ति नृपसन्निधौ ॥

इति । राज्ञक्शय्यायां शयनं, तदीयासने चोपवेशनं, तत्पादुकारोहणमिति त्रीणि छलानि । वस्त्राभरणयोश्रैवेत्यत्रादत्तग्राहक इति शेपो विज्ञेयः । मुक्तकेश इति द्विःपाठो
मुण्डस्थापि संग्रहार्थः । अवाशिष्टं व्यक्तार्थम् । अपराधानाह
नारदः—

आज्ञालङ्गनकर्तारः स्त्रीवधो वर्णसङ्करः।
परस्त्रीगमनं चौर्यं गर्भश्चैव पितं विना ॥
वाक्रपारुष्यमवाच्यं यत् दण्डपारुष्यमेव च।
गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैव तु ॥
इति । एतांश्चावेदकं विना खयं राजा विचारयेदिति शेषः।
तथाच संवर्तः—

आसेधं पथिभङ्गं च यश्च गर्भः पतिं विना ।
स्वयमन्वेपयेद्राजा विना चैव विवादिना ॥
यस्य दृश्यस्य संपत्तिने दृश्येतागमः कचित् ।
स्वयमन्वेपयेद्राजा विना चैव विवादिना ॥
सभाभङ्गं तरुच्छेदं सस्यव्याघातमेव च ।
स्वयमन्वेपयेद्राजा विना चैव विवादिना ॥

कन्यापहारकं पापं विशं च पतितं तथा।
परार्थवादसंयुक्तं खयं राजा विचारयेत्।।
पङ्गागकरश्रल्कार्थं मार्गभेदकमेव च।
स्वराष्ट्रचौर्यभीतिं च परदाराभिमर्श्वनम्।।
गोत्राह्मणनिहन्तारं सस्यानां चैव घातुकम्।
दशैतानपराधांश्च स्वयं राजा विचारयेत्॥

एतानासेधादीन् दशापराधान् स्वयं राजा विचारयेदित्यर्थः। अत्र पथिभङ्गग्रहणं छलानां प्रदर्शनार्थं, दशापराधान्तर्ग-तानां केषांचिद्धहणं तेषां प्रदर्शनार्थम् । सस्यघातुकग्रहणं तु पदानां प्रदर्शनार्थम् । पदानि च समस्तानि पितामहेन दर्शितानि—

उत्कर्ती सस्यघाती चाष्यग्रिदश्च तथैव च ।
विध्वंसकः कुमार्याश्च निधानस्योपगोपकः ॥
सेतुकण्टकभेत्ता च क्षेत्रसञ्चारकस्तथा ।
आरामच्छेदकश्चैव गरदश्च तथैव च ॥
राज्ञो द्रोहमकर्ता च तन्मुद्राभेदकस्तथा ।
तन्मन्त्रस्य मभेत्ता च बद्धस्यैव च मोचकः ॥
भोगदण्डौ च गृह्णाति दानमुत्सेकमेव च ।
पटहाघोपणाच्छादी द्रव्यमस्वामिकं च यत् ॥
राजावलीढं द्रव्यं यद्यस्ववाङ्गविनाञ्चनम् ।
द्राविंशतिं पदान्यादुः नृपज्ञेयानि पण्डिताः ॥

9

इति । एवं छलादीनि साक्षाद्वा स्तोभकम् चकवचनाद्वा ज्ञात्वा राज्ञा द्रष्टव्यानि । अन्यानि पुनः कार्याणि कार्यिणा तत्सम्व-न्धिना वा ज्ञात्वा, नान्यथेत्यवगन्तव्यम् । स्तोभकमुचकयोर्छ-क्षणमाह कासायनः--

ः शास्त्रेण निन्दितं त्वर्थमुख्यश्चार्थप्रचोदितः । आवेदयति यः पूर्वे स्तोभकस्स उदाहतः॥ नृपेणैव नियुक्तो यः परदोषमवेक्षितुम् । नृपस्य मुचयेज्ज्ञात्वा मुचकस्स उदाहृतः॥ अर्थमुरूयोऽर्थप्रधान इसर्थः । अत्र हारीतः — शास्त्राणि वर्णधर्मास्त प्रकृतीनां च भूपतिः। व्यवहारस्वरूपं च ज्ञात्वा तत्सर्वमाचरेत् ॥ प्रकृतयः पुनः पितामहेन दर्शिताः — रजकश्चर्यकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तकश्च विज्ञेया म्लेच्छभिल्लौ तथैव च ॥ वेमरस्थिराविव्याधहस्तलाक्षद्वघट्टकाः । कोसेदकाभीरपदमातङ्गाण्डोपगोपकाः॥ एताः प्रकृतयः प्रोक्ताः अष्टादश मनीपिभिः । वर्णानामाश्रमाणां च सर्वदा तु वहिस्थिताः ॥ इति । व्यवहारस्वरूपं च आद्यप्रकरण एव निरूपितम्। मनुरापि-जानिजानपद्वान् धर्मान् श्रेणीधर्माश्च श्रावतान् । समीक्ष्य कुलधर्मीश्र स्वे वर्गे प्रतिपाद्येत् ॥ SMRITI CHA.—Vol. III

श्रेणीधर्माः वाणिकारुकादीनां स्वे स्वे वर्गे इद्मस्मिन् अहिन न विक्रेयं इदं चानयैव श्रेण्या विक्रेयमिसेवमाद्यः। अस्मिन् कुले पश्चमेऽहिं पश्चमे वाऽब्दे कर्णवेधः कर्तव्य इत्याद्यः कुल धर्माः। प्रतिपाद्येत् वोधयेत्। अकुर्वतश्चानापदि वलात्कारेण कारयेत्। तथाच याज्ञवल्क्यः—

कुलानि प्रकृतीश्चैत्र श्रेणीजानपदानापि । स्वधर्माचलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥

नारदस्तु कार्यदर्शनप्रकारमाह-

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य पाड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येत् व्यवहाराननुक्रमात् ॥

अनुक्रमात् अर्थिवचनश्रवणादनुक्रमेणेत्यर्थः । तथाच स एव —

आगमः प्रथमः कार्यो व्यवहारपदं ततः । विचारो निर्णयश्चेति दर्शनं स्वाचतुर्विधम् ॥

आगमोऽर्थिवचनश्रवणं, तदादौ कर्तव्यम् । ततस्तद्वचनमृणा-दानाद्यन्यतमास्मन् पदेऽन्तर्भाव्यम् । ततः प्रतिज्ञोत्तरप्रमाणा-नां विचारः, ततः प्रमाणतो जयावधारणं एवं तदीयभाष्ये व्याख्यातम् । तत्र मनुः—

> क्षन्तव्यं प्रभुणा निसं क्षिपतां कार्थिणां तृणाम् । वालवृद्धातुरणां च कुवेता हितमात्मनः ॥ यत् क्षिप्तो मर्पयत्यातेंः तेन स्वर्गे महीयते । यत्त्वैश्वर्यात्र क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां दर्शनविधिः

अथासेधविधिः

तत्र नारदः---

वक्तव्येऽथे ह्यातिष्ठन्तमुत्कामन्तं च तहचः ।
आसेधयेद्विवादार्थी यावदाहानदर्शनम् ॥
संदिग्धेऽप्यर्थे निर्णयोदासीनं निर्णयाय प्रवर्तितव्यमिसादि
चार्थिनो वचनमवमन्यमानमासेधयेद्राजाज्ञया निरुन्ध्यादृश्यवहारदर्शनार्थाहानपर्यन्तं विवादानिर्णयार्थासर्थः । चतुर्विधश्चायमासेध इत्याह स एव—

स्थानासेधः कालकृत प्रवासात् कर्मणस्तथा ।
चतुर्विधस्त्यादासेधस्त्रमासिद्धो न लङ्घयेत् ।!
स्थानासेधो गृहदेवकुलादिस्थानान्न चलितव्यमित्यवरोधनम् ।
कालकृतः पश्चम्यादावात्मा द्शीयतव्यो नो चेद्राजाज्ञामुल्लङ्घिन्
तवानित्येवंविधः । प्रवासादासेधो यात्रावारणम् । कर्मण आसेधः पण्यप्रसारणादेः वारणं, न पुनर्निरीक्षणादेः । यदाह

यस्त्विन्द्रियानिरोधेन व्याहारोच्छुसनादिभिः । आसेधयेदनासेध्यं स दण्ड्यो न त्वितिक्रभी ॥ इन्द्रियनिरोधादेस्सङ्कटत्वात् न तत्र राजाज्ञातिक्रमो दोपमा-वहतीसर्थः । अत एव नदीसन्तरणादिसङ्कटविपयेऽपि अप-राधो नास्तीसाह नारदः—

नदीसंतारकान्तारदुदेशोपप्रवादिषु ।

आसिद्धस्तं परासेधमुत्कामक्रापराध्रयात् ॥
नद्यास्संतरणं नदीसन्तारः । कान्तारो दुर्गमो मार्गः ।
दुष्टचोरच्याघ्रादिदेशो दुर्देशः । उपष्ठपः परवलादिभिर्च्याकुलता ।
एवमादावाज्ञातिक्रमेऽपि नापराधः । अन्यत्र त्वपराधमाह
पितामहः—

राजाज्ञा लिखिता येन करणीया विशेषतः। सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य द्रौह्यं तेन कृतं भवेत्॥

यत्र त्वाज्ञातिक्रमेऽपराधः तत्र दण्डमाह व्यासः— आसेधयोग्य आसिद्ध उत्कामन्दण्डमहिति !

इति । नारदोऽपि-

आसिधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते । स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेद्धा दण्डभाग्भवेत् ॥

अन्यथा कुर्वन् अनासेध्यमासेधयित्रसर्थः । तथा च व्यासः -आसेधयंस्तुनासेध्यान् राज्ञा शास्य इति स्थितिः ।

इति । अनासेद्धचानाह कात्यायनः-

वृक्षपर्वतमारूढा हस्त्यश्वरथनै। स्थिताः ।
विषमस्थाश्च ते सर्वे नासेद्धचाः कार्यसाधकैः ॥
व्याध्यार्ता व्यसनस्थाश्च यजमानः स्तथैव च ।
अनुत्तीर्णाश्च नासेध्या मत्तोन्मत्तजडास्तथा ॥
न कर्षको वीजकाले सेनाकाले तु सैनिकः ।

प्रतिज्ञाय प्रयातश्च कृतकालश्च नान्तरा ॥ उद्युक्तः कर्पकस्सस्ये तोयस्यागमने तथा । आरम्भात्संग्रहं यावत् तत्कालं न विवादयेत् ॥

अनासेधकालत्वादिसाभिमायः । वृहस्पतिरपि-

सत्रोद्वाहोद्यतो रोगी शोकार्तोन्मत्त्वालकाः।
मत्तो वृद्धो नियुक्तश्च नृपकार्योद्यतो व्रती ॥
आसन्ने सैनिकस्सङ्ख्ये कर्पको वापसङ्गृहे।
विपमस्थाश्च नासेध्याः स्त्रीसनाथास्त्रथैव च॥

सङ्ख्ये सङ्गामे । नारदोपि--

निर्वेष्टुकामो रोगार्तो यियक्षुर्व्यसने स्थितः।
अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥
गवां प्रचारे गोपालाः सस्यारम्भे कृपीवलाः।
शिल्पिनश्चापि तत्काल अयुधीयाश्च विग्रहे ॥
अप्राप्तव्यवहारश्च दृतो दानोन्मुखो वृती।
विष्पस्थाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेवृषः॥

निर्वेष्टुकामो विवाहाभिमुखः। गवां प्रचारोऽटवीमुखः। अप्रा-प्रव्यवहारोऽपूर्णपोडशवर्षः। विषमस्थाः चोराद्यपहृतसर्वस्वाः। व्यासोपि—

> रोगी यियक्षुरुन्मत्तो धर्मार्थी व्यवसनी व्रती । दानोन्मुखो नाभियोज्यो नासेध्यो नाह्येच तम् ॥

अत्र विशेषमाह वृहस्पतिः— वणिग्विक्तीतपण्यस्तु सस्ये जाते कृषीवलः । सत्रोद्यताश्चापि तथा प्रापणीयाः कृतक्रियाः इति ॥

इति स्पृतिचन्द्रिकायामासेध..

अथ दर्शनोपक्रमः

तत्र मनुः---

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गस्समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥
शास्त्रोक्तकाले इति शेषः। तथाच कात्यायनः—
काले कार्यार्थिनं पृच्छेत् प्रणतं पुरतिस्थितम्।
किं कार्ये का च ते पीडा मा भैपीर्व्रहि मानव॥
किं कार्यमिति देयाप्रदानस्य ज्ञानार्थे प्रश्नः, का च पीडेति
हिंसायाः। तथा तयोः कर्तृदेशकालकारणपरिज्ञानार्थे सभापतिना प्रश्नचतुष्ट्यं कार्यमिस्राह स एव—

केन कस्मिन् कदा कस्मात् पृच्छेदेवं सभां गतः॥ इस्रेवं पृष्टः कार्यार्थी ततस्तस्मै वक्तव्यजातं विज्ञापयेत्। तथाच याज्ञवलक्यः —

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधिषतः परैः । आवेदयित चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥ अनेन वादी परकृतमुपद्रवमावेदयेदिसर्थादुक्तम् । चेच्छ्ब्दोऽत्रा-वेदकरुच्येवावेदनं कार्यम्, न तु राजाज्ञयेति ज्ञापनार्थः । परैरिति वहुवचनग्रुपलक्षणार्थम् । अत एव कात्यायनेनापराध कर्तृप्रश्नः केनेसेकवचनान्तेन दार्शितः । आधर्षितग्रहणं विवा-देऽधिकारिणः अभिधानार्थे, न तु कर्तुः—

अर्थिना संनियुक्तो वा प्रसर्थिप्रहितोपि वा ।
यो यस्यार्थे विवदते तयोजेयपराजयौ ॥
इति कासायनेन विवादे नियुक्तस्यापि कर्तृत्वाभिधानात्। नियुक्तग्रहणं तदीयानामप्युपलक्ष्मणार्थम् । अत एव पितामहः—

पिता भ्राता सुह्चापि वन्धुस्सम्विन्धिनोपि वा।
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्तयेत् ॥
यित्किचित्कारयेर्तिकाचित् नियोगः द्येन केनचित्।
तत्तेनैव कृतं क्षेयमिनवर्त्ये हि तत्स्मृतम्॥
इति। एवंचार्थिना वा तदीयेन वा पुरुषेणावेदनं कार्यं न त्वन्येनेसनुसंधेयम्। अत एव नारदः —

यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् । परार्थवादी दण्ड्यस्त्याद्वचवहारेषु विद्युवन् ॥ कात्यायनोपि—

दासाः कर्मकराविशव्याः नियुक्ता वान्धवास्तथा । वादिनो न च दण्ड्यास्स्युः यस्तुतोऽन्यस्स दण्डभाक् ॥ एवमावेदनकर्ताऽप्यावेदनसमये अविनीतो वदन् दण्ड्य इसा-होशना—

सशस्त्रोऽनुत्तरीयश्च मुक्तकेशस्ससाधनः ।

वामहस्तेन च स्नर्गा वदन् दण्डमवाष्नुयात् ॥ अतोऽनेवंभूतो वदेदिसभिषायः । ततस्तद्रचनं सर्वे फलकादौ लेखको लिखेत् । तथाच नारदः —

रागादीनां यदेंकेन कोषितः करणे वदेत् ।
तदोमिति छिखेत्सर्वमिथिनः फलकादिषु ॥
करणे राजादिसिन्निधावित्यर्थः। तच लिखितं जन्मान्तरे मयाऽस्मै धनं दत्तं तद्सौ न प्रयश्छतीतिवद्विचारायोग्यं यदि न स्यात् तदा तत्प्रयथ्यीनयनाय मुद्राप्रदानादिकं कुर्यात्। तथाच
कात्यायनः—

एवं पृष्टस्स यद्भ्यात्तत्सभ्येत्रीह्मेणस्सह ।
विमृश्य कार्य न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतःपरम् ॥
मुद्रां वा निक्षिपेत्तस्मिन् पुरुपं वा समादिशेत् ।
तिमिन्नावेदके । पुरुषः साध्यपालः । न्याय्यं योग्यम् । आह्वान् नार्थमभियुक्तस्येति शेषः । तथा च वृहस्पतिः—

यस्याभियोगं कुरुते तथ्येनाशङ्कयाऽथवा ।
तमेवानाययेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा ॥
उत्तरदाने तस्यैवाधिकारादिसभिष्रायः । अत एव कात्यायनः –
अधिकारोऽभियुक्तस्य नेतरस्यास्समङ्गतेः ।

इति । इतरस्यानभियुक्तस्य तस्मिन्विवादे सम्बन्धाभावान्नास्त्युः त्तरदानेऽधिकार इत्यर्थः । अतः इतरस्योत्तरवादित्वं, न स्वतः, किंतु अभियुक्तेन प्रतिवादित्वकरणात् । प्राड्विवाके वा स्वका र्यकरणत्वेन समर्पणाद्धिंना वा स्वरुच्या प्रतिवादित्वाङ्गीका-रात्। नान्यथा, तदाह स एव—

> इतरोप्यभियुक्तेन प्रतिरोधीकृतो मतः । समार्पितोऽधिना योऽन्यः परो धर्माधिकारिणे ॥ प्रतिवादी स विज्ञेयः प्रतिपन्नश्च यस्ख्यम् ।

अयमर्थः—इतरो विवादासम्बद्धोऽपि अभियुत्केन प्रतिरोधीकृतः-प्रतिवादीकृतः मन्वादीनामुत्तरवादित्वेन संपतः। तथा अन्यो द्वि-तीयः स विज्ञेयः, यः परो विवादासंबन्धी धर्माधिकारिणि प्राद्धि-वाकेऽभियुक्तेन समर्पितः अर्थिना वा स्वयमेव यः प्रतिपन्नः प्रतिवादित्वेनाङ्गीकृत इति। एतच्चानिधकारिणः प्रतिवादित्व-मकल्याद्यधिकारिविषये वेदित्वयम्। तत्राधिकारिणः साक्षा-त्कर्तृत्वस्य दुष्करत्वात्। अत एव वृहस्पतिः—

अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीवालरोगिणाम् ।

पूर्वोत्तरं वदेद्धन्धुः नियुक्तोऽन्योऽथवा नरः ॥

अत एव च तेपामाह्यानप्रतिषेधो हारीतादिभिस्स्पर्यते—

अंकल्यवालस्थिविरिविषमस्थिकियाकुलान् । कार्यातिपातिव्यसिननृपकार्योत्सवाकुलान् ॥ मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तभृत्यात्राह्वापयेत्रृपः ॥

अकरयो व्याधितः । विषमस्थ उत्पन्नसङ्कटः । क्रियाकुरुः नित्यनैमित्तिककर्मकरणव्यग्रः । यस्य त्वागच्छतो गुरुतरकार्य हानिस्स कार्यातिपाती । व्यसनिमृष्टवियोगादिजं दुःखं, तद्वान् Smrtt Cha.—Vol. III.

व्यसनी । मत्तो दुत्तूरादिमदनीयद्रव्येण स्वालितवुद्धिः । उन्मत्तो ग्रहपित्तादिभिः । प्रमत्तस्सर्वत्रावधानहीनः । आर्तो विपादिना दुःखितः । भृसग्रहणमस्वतन्त्रस्त्रीणामप्युपलक्षणार्थम् । अत एव कासायनः—

धर्मोत्सुकानभ्युद्ये रोगिणोऽथ जडानि ।
अस्वस्थमत्तोन्मत्तार्तिस्त्रियो नाह्नापयेहृपः ॥
स्त्रियोऽत्र परतन्त्रा विवक्षिताः । आह स एव—
न हीनपक्षां युवितं कुले जातां प्रसृतिकाम् ।
सर्ववर्णोत्तमां कन्यां ताः ज्ञातिप्रभुकास्स्मृताः ॥
तद्धीनकुटुम्विन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः ।
निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्नानमिष्यते ॥
इति । हीनपक्षा मन्दकुला, युवतीतितस्या एव विशेषणम् ।
कले जाता सरकले जाता सर्ववर्णोत्तमा वाद्यपेषयोत्तमवर्णी ।

कुले जाता सत्कुले जाता, सर्ववर्णोत्तमा वाद्यपेक्षयोत्तमवर्णा । ताः पूर्वोक्ताः पञ्च ज्ञातिप्रभुकाः परतन्त्राः । नेतराः । तेन तद्धीनकुटुम्बिन्यादी।नामाह्वानं मन्वाद्यभीष्टमिसर्थः । नारदोपि केषुचिदाह्वानं प्रतिषेधति—

निर्वेष्टुकामो रोगार्तो यियश्चर्यसने स्थितः । अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥ गवां प्रचारे गोपालाः सस्यारम्भे कृषीवलाः । शिल्पिनश्चापि तत्काल आयुधीयाश्च विग्रहे ॥ अप्राप्तव्यवहारश्च दृतो दानोन्मुखो वती । विषमस्थाश्च नासेध्याः न च तानाह्वयेत्रृपः ॥ निर्वेष्टुकामो विवाहाभिम्रुखः । व्यासोपि—

रोगी यियक्षुरुन्मत्तो धर्मार्थी व्यसनी वृती ।
दानोन्मुखो नाभियोज्यो नासेध्यो नाह्येच तम् ॥
इति । अतोऽकल्यादिविषय एव प्रतिनिधिविधानं व्यवतिष्ठत इति
स्थितम् । यदा त्वकल्यादिपहितप्रतिनिधिना न कार्यनिष्पत्तिः
तदाऽकल्यादीनामप्याह्वानं कार्यम् । तथा च हारीतः—

देशं कालं च विज्ञाय कार्याणां च वलावलम् । अकल्यादीनिप शंनैर्यानैराह्यापयेत्रृपः ॥

इति । यदा तु गुरुतरकार्ये व्वभियोगः तदाऽभियुक्तस्यैवा-ह्वानमावश्यकं, तत्र प्रतिनिधिनिषेधात् । तथाच कात्यायनः—

> ब्रह्महत्यासुरापानस्तेयगुर्वङ्गनागमे । अन्येष्वसभ्यवादेषु प्रतिवादी न दीयते ॥

असभ्यवादानापे स एवाह—

मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने । अमध्यभक्षणे चैव कन्याहरणदृषणे ॥ पारुष्ये कृटकरणे नृपद्रोहे तथैव च । पतिवादी न दाष्यस्त्यादर्थिपत्यर्थिनोरपि ॥

वादिमतिवादिनोः मतिनिधिः मतिवादी, स सर्वथा गुरु-कार्येष्वेवमादिषु न ग्राह्यः। अत एव हारीतः— ज्ञात्वाऽभियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजिताद्यः ।
तानप्याह्वपयद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥
अत्राकोपयिति वदन् प्राक्ततजने निष्टुरिगराऽप्याह्वानं कार्यमिति ज्ञापयित । स्पष्टीकृतं चैतद्वचासेन—
उत्पादयित यो हिंसां देयं वा न प्रयच्छित ।
याचमानाय दौक्शील्यादाकृष्योऽसौ तृपाज्ञया ॥
यस्तु नृपाज्ञयाऽपि नागच्छित तस्य दण्डमाह वृहस्पितः—
आहूतो यस्तु नागच्छेत् दर्पाद्धन्ध्वल्यान्वितः ।
अभियोगानुरूपेण तस्य दण्डं प्रकल्पयेत् ॥
कात्यायनोपि—
आहूतस्त्ववमन्येत यक्शक्तो राजशासनम् ।
तस्य कर्याव्रणो दण्डं विधिव्रकेन कर्मणा ॥

आहूतस्त्ववमन्येत यक्काको राजशासनम् । तस्य कुर्यात्रृपो दण्डं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ हीने कर्मणि पञ्चाशत् मध्यमे द्विशतावरः । गुरुकार्येषु दण्ड्यस्त्यान्तित्यं पञ्चशतावरः ॥

पणानां सङ्ख्येयम् ॥

किएतो यस्य यो दण्डस्त्वपराधस्य यत्नतः।
पणानां ग्रहणं तु स्यात्तन्मूल्यं वाऽथ राजिन ॥
इति तेनैवाभिधानात्। पणपरिमाणम्रुत्तरत्र वक्ष्यमाणमनुसन्धेयम्। शक्त इति वचनादापदादिविषये न दण्डमकल्पनं, किंतु
तिन्नवृत्तौ पुनराह्वानं कार्यम्। अत एव व्यासः—
परानीकहते देशे दुर्भिक्षे व्याधिपीडिते।

कुर्वीत पुनराह्वानं दण्डं न परिकल्पयेत् ॥ हारीतोपि—

> राजिकं दैविकं कार्यमभियुक्तस्य तत्त्वतः। स्थाने वाऽप्यन्तराळे वा यासेवं तु न दोपभाक्॥

तत्त्वतः परमार्थतः । अपरमार्थं चेदण्डियत्वा पश्चान्नचायेन वर्तयेत् । तथाच स एव—

> प्रतिष्ठाप्यं तु यनेन सोऽन्यथा दण्डभाग्भवेत् । दण्डयित्वा पुनः पश्चाद्राजा न्याये प्रवर्तयेत् ॥

एवं येनकेनाप्युपायेन नीतमभियुक्तं अभियोक्ता सह सभायाः पुरतोऽन्यत्र वाऽपेक्षितस्थाने स्थापयेत् । तथाच पितामहः—

सभायाः पुरतस्थाप्योऽभियोगी वादिनां तथा ।
ईप्सतेऽन्यत्र वा स्थाने प्रमाणं सोऽन्यथा न तु ॥
यत्र स्थिते दुष्टलक्षणप्रच्छादनमशक्यं तत्रावस्थाप्य इत्यर्थः ।
ततो राज्ञा पृष्टोऽभियोगी स्वोपयोगिष्टत्तान्तमावेदयेत् । अभियोकृकृतावेदनमात्रतो भूतान्वेपणानुपपत्तेः । अत एव भूतान्वेपणविधावुक्तं मनुना—

स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुपा भाषितेन च । इति । छल्रव्यवहारेऽपि पूर्वपक्षलेखनादर्वाक् छल्रवादित्वावधा-रणायाभियुक्तस्य दृत्तान्तस्तन्मुखेनावगन्तव्यः । द्वयोञ्छलवा-दित्वे निश्चिते पश्चाच्छलानुसारेण दर्शनाविधिः । तस्मादाभि- युक्तस्थापि वृत्तान्तावेदनमस्तीत्यवगन्तव्यम् । विवादिनोः छिल-त्वनिश्चयानन्तरं याज्ञवल्क्यः—

उभयोः प्रतिभूग्रीहाः समर्थः कार्यनिर्णये ।।
साधितधनदण्डधनयोरनायासेन प्राप्तिः कार्यनिर्णयः, तत्करण
समर्थः प्रतिभूर्श्यिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरिप ग्राह्यो व्यवहारद्रष्ट्रेत्यर्थः।
अत्र वर्जनीयानाह कात्यायनः—

न स्वामी न च वै शत्रुस्स्वामिनाऽधिकृतस्तथा।
निरुद्धो दण्डितश्चैव संशयस्थाश्च न कचित्॥
नैव रिक्थी न रिक्तश्च न चैवात्यन्तवासिनः।
राजकार्यनियुक्तश्च ये च प्रव्रजिता नराः॥
नाशक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्समम्।
नाविज्ञातो ग्रहीतच्यः प्रतिभूत्विक्रयां प्रति॥

संशयस्थाः अभिशस्ताः । अयन्तवासिनः नैष्ठिकब्रह्मचारिणः । तत्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसमम् । विहितदण्डोपलक्षणा- र्थमेतत् । यदि वादी विवादप्रतिभुवं दातुमसमर्थः तदाऽपि तेनैवोक्तं—

अथ चेत्प्रतिभूनीस्ति वादयोग्यस्य वादिनः । स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्ताय वेतनम् ॥ द्ताय साध्यपालाय । तथा परित्याजितगृहीतद्रव्य एव विवादी न्याये प्रवर्त्य इसाह स एव— गृहीतग्रहणो न्याये न प्रवत्यों महीभृता । तस्य वा तत्समर्प्यं स्थात् स्थापयेद्वा परस्य तत् ॥
इति । परस्य मध्यस्थस्य, समीप इति शेषः । तथाऽभियोक्तादीनामुक्तिक्रमोपि तेनैवोक्तः—

तत्राभियोक्ता पाक ब्रूयादिभयुक्तस्त्वनन्तरम् ।
तयोरन्ते सदस्यास्तु प्राड्विवाकस्ततः परम् ॥
प्राग्ब्रूयात् प्रतिज्ञां कुर्यादित्यर्थः । तथाच नारदः—
आज्ञालेख्यै पृष्टके शासने वा
आधौ पत्रे विक्रये वा क्रये वा ।
राज्ञे कुर्यात्पूर्वमावेदनं यः
तस्य ज्ञेयः पूर्ववादो विधिज्ञैः ॥

विवादे सर्वत्राभियोक्तरेव प्रतिज्ञावादित्विमत्यर्थः । अत्रापवाद-माह स एव---

यस्य वाऽभ्यधिका पीडा कार्य वा ह्यधिकं भवेत्।
तस्यार्थिवादो दातव्यो न यः पूर्व निवेदयेत्॥
अथिवादः पूर्वपक्षः। तथाच कासायनः—
यस्य स्याद्धिका पीडा कार्यं वाऽप्यधिकं भवेत्।
पूर्वपक्षो भवेत्तस्य न यः पूर्व निवेदयेत्॥
एवंविधविषये अथिमत्यर्थिभावस्य वैपरीत्यं परीक्षकः कार्यमिसर्थः। यत्रोभयोरापि परस्परमार्थंत्वं मत्यसर्थित्वं च साध्यभेदात् युगपद्भवति तत्रोत्कृष्टजातेः वहुपीडस्य वा अथि-

वादः पूर्वे द्रष्टव्यः । तथाच वृहस्पतिः---

अहंपूर्विकया तावद्धिमत्यधिनौ यदा । वादो वर्णानुपूर्व्येण ब्राह्यः पीडामवेक्ष्य वा ॥ समानवर्णत्वे पीडापेक्षया ब्राह्यः । अनेकवादियुग्मानां युगपदु-पस्थाने तु द्र्शनक्रममाह स्नुः—

> अर्थानर्थावुमौ वुद्धा धर्माधर्मौ च केवलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्चेत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥

> > इति स्मृतिचिन्द्रकायां दर्शनोपऋमः.

अथ प्रतिज्ञावादः

तत्र वृहस्पतिः---

उपस्थिते ततस्तस्मिन् वादी पक्षं प्रकरपयेत् । इति । समीपस्थे प्रत्योधिनि पक्षं छेखयेदित्यर्थः । तथाच याज्ञवल्क्यः-—

प्रसिधिनोऽग्रतो लेख्यं यथाऽऽवेदितमधिना ॥ इति । यथाऽऽवेदितमिति यत्साध्यमावेदितं तदेव लेख्यं, न साध्यान्तरमिति प्रतिपादनार्थं, न पुनर्यावदावेदितं तावदेव लेख्यामिति । यतोऽनावेदितस्यापि वत्सरादिविशेपस्येदानीं ले-खनं कार्यमिति स एवाह—

समामासतद्धीहर्नामजात्यादिचिहितम् । इति । समा संवत्सरः । स च धनप्रयोगादिकालीनो लेखनीयः। मासादिरापि तत्कालीन एव । आदिशब्दसंग्रहीतानि विशेपणा-नि कासायनेन दर्शितानि—

11

निवेश्य कालं वर्ष च मासं पक्षं तिथि तथा ।
वेलां प्रदेशं विषयं स्थानं जात्याकृती वयः ॥
साध्यद्रव्यप्रमाणं च सङ्ख्यां नाम तथाऽऽत्मनः ।
राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥
क्रमात्पितृणां नामानि पीडामाहर्तृदायकौ ।
क्षमालिङ्गानि चान्यानि पक्षं सङ्कीत्थं कल्पयेत् ॥

इति । कालो धनमयोगादिकालः वर्तमानेन राज्ञोपलक्षितः । वर्ष देववर्षमित्यादि । वेला भुज्यादिक्रियोपलक्षितः कालः । मदेशः साध्यक्षेत्रादेः स्थलविशेषः । विषयोऽन्तर्वेद्यादिदेशः । स्थानं विवादास्पदस्य गृहादेश्रीमादिः । आकृतिः अवयवस्यानविशेषः । वयस्तारुण्यादि । प्रमाणं परिमाणं दण्डत्तुलाप्रस्थादिकम् । आत्मनोऽधिनः । राज्ञां क्षेत्रादिभुक्तिकालीनानाम् । निवासो वासस्थानं गृहगोष्ठादि । पितरोऽधिप्रत्यधिनोजनकादयः । पीडा प्रतिभुवा धनिकेन कृता । आहर्ता प्रतिग्रहाद्यागमकर्ता । दायको दाता । क्षमालिङ्गानि आत्मीन्यधनादेः परोपभोगासहनिनिमत्तानि । अन्यानि पदार्श्वतेभ्यो-ऽधिकान्यपि वृद्धचागमादीनि । तथाच वृहस्पतिः—

निरवद्यं समिति ममाणागमसंयुतम् । द्रव्यसङ्ख्योदयं पीडां क्षमालिङ्गं च लेखयेत् ॥

तथा लक्षणान्तराण्यपि स एवाह—

अल्पाक्षरः प्रभूतार्थो निस्सन्दिग्धस्त्वनाकुलः । Smriti Cha.—Vol. III युक्तो विरोधिकरणैविरोधिप्रतिपेधकः ॥ एवमादिगुणान् सम्यगालोच्य च सुनिश्चितः । पक्षः कृतस्समादेयः पक्षाभासस्ततोऽन्यथा ॥

इति । सङ्गहकारोऽपि-

अर्थवद्धर्मसंयुक्तं परिपूर्णमनाकुलम् ।
साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुबन्धि च ॥
प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं साधनक्षमम् ।
संक्षिप्तं निखिलार्थं च देशकालाविरोधि च ॥
वर्षतुमासपक्षाहोवेलादेशपदेशवत् ।
स्थानावसथसाध्याख्याजात्याकारवयोयुतम् ॥
साध्यप्रमाणसङ्ख्यावदात्मप्रसर्थिनामवत् ।
परात्मपूर्वजानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥
समालिङ्गात्मपीडावत् कथिताहर्तृदायकम् ।
यदावेदयते राज्ञे तद्भाषेसभिधीयते ॥

इति । अर्थवत् प्रयोजनवत् । धर्मसंयुक्तं अल्पाक्षरत्वप्रभूतार्थव-न्वादिगुणान्वितम् । परिपूर्णं अध्याहारानपेक्षम् । अनाकुलं असंदिग्धाक्षरकम् । साध्यवत् सिषाधियिषितार्थाहीनम् । वाच-कपदं गौणलाक्षणिकरिहतम् । प्रकृतार्थानुवन्धि प्रागावेदितार्थाः विरोधि । प्रसिद्धं लोकप्रसिद्धवस्तुविषयम् । अविरुद्धं पुर-राष्ट्रपाड्विवाकनृपाद्यविरुद्धम् । तथा पूर्वापराविरुद्धं प्रत्यक्षादि-प्रमाणाविरुद्धं व्यावहारिकधर्माविरुद्धं च । निश्चितमर्थान्तरश-

ङ्काराहितम् । साधनक्षमं साधनाईम् । संक्षिप्तं अनतिविस्तृम् । निखिलार्थं अनवशेषितवक्तव्यम् । देशकालाविरोधि मध्यदे-शीयं क्रमुकक्षेत्रं, शरत्कालीनमाम्रफलसहस्रमपहृतमिसेवमादि-रहितम् । परात्मपूर्वजानेकराजनामभिराङ्कितम्, परः प्रतिवादी । आत्मा वादी । पूर्वजाः तयोः पित्रादयः । अनेके राजानो भुक्तिकालीनाः । तेषां नामानि परात्मपूर्वजानेकराजनामानि, तैश्चिहितम् । शिष्टमुक्तार्थम् । अर्थवन्वादीनि देशकालाविरोधि-त्वान्तान्यार्थेमत्यार्थेनामसहितानि सर्वव्यवहारभाषोपयोगीनि । तेन तैस्सर्वत्र भाषायामवस्यंभवितव्यम् । तैर्विना कचिदपि साध्यसिद्धेः सुखेन कर्तुमशक्यत्वात् । वर्पादीनि पुनर्विशेष-णानि सर्वाणि न सर्वत्रोपयोगीनि, कतिपयैर्विनाऽपि तत्र तत्र साध्यसिद्धिसम्भवात् । अतो यत्र येपामुपयोगस्तत्रैव तेपां नि वेशनं कार्यं, नेतरत्रापि, प्रयोजनाभावात् । तत्र वर्षादि-कालानां वृद्धिमद्धनद्वेगुण्यादिविवादे प्रतिग्रहऋयाध्यादीनां पौ र्वापर्यविवादे चोपयोगः। देशप्रदेशस्थानानां तथा परात्मपु-र्वजानेकराजनामधेयानामाहर्तृदायककथनस्य च स्थावरविवा-देपूपयोगः । साध्याख्याजात्याकारवयसां चौर्यास्वामिविक्रयाः दावर्थविवादेऽप्युपयोगः । प्रमाणसंख्ययोर्मेयतुः लिमगणिमादिद्र-व्यविवादे चौर्यविवादे चोपयोगः । क्षमालिङ्गानां उपेक्षितस्था-नादिविवादेषूपयोगः । आत्मपीडायाः ऋणिकलप्रकविवादादा-बुपयोग इत्येपा दिक् । एवंचार्थवन्वादिभिस्सह वर्पादीनां यथो-

पयोगं कचित्कचिन्निवेशनमिति मन्तव्यम् । अत एव का-त्यायनः—

देशश्चेव तथा स्थानं सिन्नवेशस्तथैव च।
जातिस्संज्ञा निवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च॥
पितृपैतामहश्चेत्र पूर्वराजानुकीर्तनम्।
स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत्॥

इति । तेपां तत्रोपयोगादिसाभिप्रायः । हारीतोपि—
आसनं शयनं यानं ताम्नं कांस्यमयोमयम् ।
धान्यमञ्ममयं वस्त्रं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥
मणिमुक्ताप्रवाळानि हीरकं रूप्यकाञ्चनम् ।
यदि द्रव्यसमूहस्त्यात् सङ्ख्या कार्या तथैव च॥
यस्मिन् देशे च यद्रव्यं येन मानेन मीयते ।
तेन तस्मिन् तथा सङ्ख्या कर्तव्या व्यवहारिभिः ॥

इति । हीरकं वज्रं, तेन मानेन मित्वा सङ्घा कर्तव्येसाह । एवंच यत्र यदुपयुज्यते तत्र तदभावे साध्यसिद्धेः कर्तृमशक्यत्वादना-देय एवोपयोगिविहीनः पक्षः । अत एव कासायनः—

> देशकालविहीनश्च द्रव्यसङ्ख्याविवार्जितः । क्रियाममाणहीनश्च पक्षो नादेय इष्यते ॥

क्रियाप्रमाणं साध्यपरिमाणम् । तथा प्रयोजनवत्त्वादिलक्षण हानोऽपि पक्षो हेय एव । अप्रसिद्धं निरावाधं निर्धं निष्पयोजनम् । असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षं राजा विवर्जयेत् ॥ तत्राप्रसिद्धो बृहस्पतिना निरूपितः —

न केनचित्कृतो यस्तु सोऽप्रासिद्ध उदाहृतः।

इति । अत्रोदाहरणं पल्लसहस्रकृतं स्थालं गृहीतिमिति । निराबाधो निरुपद्रवः, यथा अस्मद्भवनस्थपदीपप्रभया स्वगृहे व्यवहरतीति । निर्थनिष्पयोजनौ वृहस्पतिना दार्शतौ—

स्वल्पापराधस्स्वल्पार्थी निरर्थक इति स्मृतः ।

कार्यवाधविहीनस्तु विज्ञेयो निष्प्रयोजनः ॥
तत्र निर्धकस्योदाहरणं—अहमनेन सस्मितं निरीक्षितः, मामकी
लाक्षाऽनेनापहृतेति वा । निष्प्रयोजनस्य तु यथा—यज्ञदत्तोऽस्मद्रृहसमीपे श्लाधमानः पठतीति । प्रकारान्तरेणाप्येतौ तेनैव
दर्शितौ—

कुसीदाद्यैः पदैहींनो व्यवहारो निरर्थकः । वाक्पारुष्यादिभिश्चेव विज्ञेयो निष्पयोजनः ॥ ऋणादानाद्यष्टादशपदानन्तर्भूतो निरर्थकः । वाक्पारुष्यादि-भिस्साध्यसिद्धचनुपयुक्तैस्सहितः पक्षो निष्पयोजन इत्यर्थः । असाध्यविरुद्धावपि तेनैव दर्शितौ—

> ममानेन प्रदातव्यं शशरुङ्गकृतं धनुः । असम्भाव्यमसाध्यं तं पक्षमाहुर्मनीपिणः ॥ यस्मिन्नावोदिते पक्षे प्रद्विवाके च राजाने ।

पुरे राष्ट्रे विरोधस्त्याद्विरुद्धस्सोऽभिधीयते ॥ इति । नारदोपि भाषादोपान् दर्शयति— अन्यार्थमर्थहीनं च प्रमाणागमवार्जेतम् । लेख्यहीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोपा उदाहृताः ॥

स्वयमेव व्याचष्टे-

अर्थे साधारणेऽप्येको वाद्यर्थे वाऽनियुक्तकः । लेखयेद्यस्तु भाषायामन्यार्था तां विदुर्वुधाः ॥ एक एव गणी गणस्य कार्यमेकस्य वा कार्यमनियुक्तोऽसम्बन्धी वा लेखयेद्यस्यां भाषायामित्यर्थः ।

ब्रह्महाऽयिमिति ज्ञेयो द्वेपान्मोहाहदेत्तु यः ।
साध्यं च मोचयेत्तत्र द्रव्यहीनां तु तां विदुः ॥
उक्तं साध्यवादिना यस्यां त्यज्यते सा च भाषाऽर्थहीनेत्यर्थः ।
गणिमे तुलिमे मेये तथा क्षेत्रग्रहादिके ।
यत्र सङ्घा न निर्दिष्टा सा प्रमाणिवर्वाजता ॥
विद्यया प्राप्तमाध्याप्तं लब्धं क्रीतं क्रमागतम् ।
न त्वेवं लिख्यते यत्र सा भाषा स्यादनागमा ॥
समा मासस्तथा पक्षस्तिथिवीरस्तथैव च ।
यत्रैतानि न लिख्यन्ते लेख्यहीनां तु तां विदुः ॥
लेखयित्वा तु यो भाषामिनिर्दिष्टे तथोत्तरे ।
उद्दिशेत्साक्षिणं पूर्वमिधिकां तां विनिर्दिशेत् ॥
यत्र स्यादुभयं सर्वं निर्दिष्टं पूर्ववादिना ।

संदिग्धामिव लिख्येत भ्रष्टां भाषां तु तां विदुः ॥ इति । यत्र पक्षद्वयमिखलं प्रतिज्ञावादिनैव निर्दिष्टं स्यादित्यर्थः । तथाऽन्यानिप पक्षाननादेयानाह स एव—

भिन्नक्रमो व्युत्क्रमार्थः प्रकीर्णार्थो निरर्थकः । अतीतकालो द्विष्ठश्च पक्षोऽनादेय इंष्यते ॥ तत्र भिन्नक्रमस्तेनैव व्याख्यातः—

यथास्थाननिवेशेन नैव पक्षार्थकल्पना । शस्यते न स पक्षस्तु भिन्नक्रम उदाहृतः ॥ व्यस्ताक्षरसंस्थानो भिन्नक्रम इसर्थः । व्युत्क्रमार्थो व्यवहिता-न्वयेनार्थबोधकः । प्रकीर्णार्थः संकल्पितार्थः । निर्थकादीन् स एवाचष्टे—

मूलमर्थ परित्यज्य तहुणो यत्र लिख्यते ।

निरर्थकः स वै पक्षो भूतसाधनवर्जितः ॥

भूतकालमितक्रान्तं द्रव्यं यत्र विलिख्यते ।

अतीतकालः पक्षोऽसौ प्रमाणे सत्यपि स्मृतः ॥

यस्मिन् पक्षे द्विधा साध्यं भिन्नकालिवमर्शनम् ।

विमृश्यते कियाभेदात्स पक्षो द्विष्ठ उच्यते ॥

इति । भूतसाधनं मूलभूतधनसाधनम् । भूतकालोऽवधिभूतः
कालः । क्रियाभेदात् प्रमाणभेदात् । तथाऽपरानिप पक्षाभासानाह स एव—

अन्याक्षरिनवेशेन अन्यार्थगमनेन च।

आकुलं तु भवेलेख्यं किया चैत्राकुला भवेत् ॥
उपेक्षा यत्र साध्यस्य विंशतिर्दश वा समाः ।
शक्तेनापि कृता वादे तस्य पक्षो मृषा भवेत् ॥
साहसं सह साध्येन निर्दिष्टं यत्र लेखयेत् ।
उक्तिक्रमविहीनत्वात् सोपि पक्षो न सिद्धचिति ॥
किया साध्यं, साधनं प्रमाणम् । हारीतोपि—

प्रकान्तसाधनोऽर्थस्तु हिधा यस्मिन्निवेश्यते ।
स्वसाध्याद्वा विभिन्नो वा सोपि पक्षो मृषा भवेत् ॥
प्रकान्तः साधियतुमुपकान्तोऽर्थो द्विधा द्विप्रकारेण साध्यतयाऽथवाऽऽवेदितात्साध्याद्विधान्तरेण तद्विरोधितया वा यत्र पक्षे
निवेश्यते सोपि पक्षाभास इसर्थः । भृगुरपि—

उत्सष्टं यत्र हीनेन कल्प्यं वाऽप्येकमेकतः । तत्र पक्षो न साध्यस्त्याच्छास्त्रशिष्टविवार्जितः ॥ विरुद्धाविरुद्ध द्वावप्यर्थो निवेशितौ । एकस्मिन् यत्र दृइयेते तं पक्षं दूरतस्त्यजेत् ॥ हीनेन हीनवादिना । पितामहोपि—

परस्पराविरुद्धानि यः पदानि निवेशयेत् । विरुद्धपदसङ्कीर्णा भाषा तस्य न सिद्धचिति ॥ कात्यायनोषि—

> न्यायस्थं नेच्छते कर्तुं अन्याय्यं वा करोखयम् । न लेखयाति यस्त्रेवं तस्य पक्षो न सिद्धचिति ॥

न्यायागतं मदीयं धनं गृहीत्वा न ददातीतिवत् प्रतिपेध-रूपेण वा मदीयं क्षेत्रादिकमपहरतीतिवद्विधिरूपेण वा न छेखयतीत्यर्थः । तथा—

> पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विवर्जितः । अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्धचिति ॥

पुरराष्ट्राचाराविरुद्धो राजत्यक्तशुरुकशालादिविषयस्सर्वधा न सिद्धगति । ऋणादानाद्यनेकपदसङ्कीर्णस्तु कियाभेदाद्यौगप-द्येन न सिद्धगतीत्यर्थः । यत्पुनस्तेनोक्तम्—

> वहुपतिज्ञं यत्कार्यं व्यवहारे सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृह्णीयाद्राजा तत्त्ववुभुत्सया ॥

इति, तदनेकपदसङ्कीर्णस्य कालभेदेनोपादेयत्वप्रतिपादनार्थ, अथवा ऋणादानाद्येकपदान्तर्गतानेकजातीयानां हिरण्यवस्न-पशुधान्यानामेकजातीयानां सङ्ख्यापरिमाणदेशकालद्वद्यादिभे-देन गृहीतानां यथावृत्तकथनार्थं भेदेन प्रतिज्ञाय पुनस्तत्सर्वं प्रतिदेयमित्येककार्यतयोपसंहतं ग्राह्यमित्येवं प्रतिपादनार्थम्, अतो न प्राचीनवचनेन विरोधः। तथा—

आगमः परिभोगश्च व्युच्छित्तः प्रार्थना तथा ।
एतचतुष्ट्यं प्राहुः भाषादोषास्त्वकारणाः ।।
आगमो धनागमननिमित्तं प्रतिग्रहादिः । परिभोगो यथेष्टविनियोगानिष्टत्तिः । व्युच्छित्तिः देशविष्ठवादिना भागविच्छित्तिः।
प्रार्थना युक्तिभिभींगागमकीर्तनम् । एतदागमादिचतुष्ट्यं भा-

षागुणा इति प्राहुः । ये पुनरागमादयः अकारणाः विना निवेश-कारणं भाषायां निविष्टास्ते भाषादोषा इति प्राहुरित्यर्थः । अतोऽत्राकाञ्कितस्यावापः कार्योऽनाकाञ्कितस्य वोद्धारः। तथाच स एव—

अधिकान् भेदयेदर्थान् न्यूनांश्च प्रतिपूरयेत् ।
भूमौ निवेशयेत्तावत् यावदर्थां न निश्चितः ॥
छेदयेदुद्धरोदित्यर्थः । भूमावित्युपलक्षणार्थः । तथाच स एव—
पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं प्राड्डिवाकोऽभिलेखयेत् ।
पाण्डुलेखेन फलके ततः पत्रे विशोधितम् ॥
स्वभावोक्तं भयाद्युपाधिराहिसेनोक्तम् । विशोधितं अन्यूनानितिरिक्तमप्रसिद्धत्वादिदूषणरिहतं च । तथाच वृहस्पितः—

प्रतिज्ञादोषिनिर्भुक्तं साध्यतत्कारणान्वितम् ।
निश्चितं लोकसिद्धं च पक्षं पक्षिविदो विदुः ॥
लोकसिद्धं व्यावहारिकधर्माविरुद्धमित्यर्थः, लोकप्रसिद्धमित्येवंविधार्थस्य प्रतिज्ञादोपिनिर्मुक्तमित्यनेनैवार्थादुक्तत्वात् । अत
एव मनुः—-

सभ्या भाषा न भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता । विहिश्चेद्धाष्यते धर्मात् नियताद्वचावहारिकात् । सर्वदोपरिहता अपि भाषा व्यावहारिकधर्मिवरुद्धा चेत् सभास-द्धिने प्राह्मेत्यर्थः । एवमुक्तलक्षणः पक्षश्चतुार्वेध इत्याह वृहस्पतिः— शङ्काडिभयोगस्तथ्यं च लब्धेडिथेंडभ्यर्थनं तथा । वृत्ते वादे पुनर्न्यायः पक्षो ज्ञेयश्चतुर्विधः ॥ अत्र नारदः—

शोधयेत्पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम् ।
अवष्टब्थस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनं भवेत् ॥
न चात्र शक्कवेलान्यायेनोत्तरदानयोग्यकालातीते शोधननिवृत्ति
रिति शक्कनीयम् । यत आह स एव—
भाषाया उत्तरं यावत्प्रसर्थीं न निविशयेत् ।
अर्थी तु लेखयेत्तावद्यावद्वस्तु विवक्षितम् ॥
इति । केचिन्निर्दिष्टेऽप्युत्तरे शोधनमिच्छन्ति तदनवस्थाप्रसङ्खात्
पूर्वोक्तवचनविरोधाच हेयम् । अत एव सङ्गृहकारः—

भाषान्यूनातिरिक्तेषु सम्यक्ष्त्रणकारिभिः ।
पुनः प्रतिसमाधाय शृणुयादुत्तरं ततः ॥
यस्मात्प्रत्यथिनाऽऽरब्ध उत्तरेऽधिप्रभाषितम् ।
उपयोग्यपि नादेयं तस्यावसरवर्जनात् ॥
आरब्धे दत्त इत्यर्थः । दीयमानेऽप्युत्तरे प्रतिसमाधानस्येष्टत्वात्
तथाच कासायनः—

मोहाद्वा यदि वा शाठ्याद्यन्नोक्तं पूर्ववादिना । उत्तरान्तर्गतं वाऽपि तद्वाह्यम्भयोरपि ॥ उत्तरान्तर्गतम्रुत्तरे कथ्यमानेऽपि वादिना मोच्यमानमिसर्थः। उभयोः अर्थिपत्यर्थिनोः । मसर्थिनस्तु कियापाद उत्तरः । यदा पूर्वपक्षमशोधियत्वैव सभ्येरुत्तरं गृहीतं, तदा सभ्यद्
ण्डनं कृत्वा प्रतिज्ञापूर्वकं कार्ये द्रष्ट्व्यम् । यदा त्वर्थी सपदि प्रतिज्ञां कर्तुमसमर्थः तदा वृहस्पतिराह—
अभियोक्ताऽप्रगल्भत्वात् वक्तं नोत्सहते यदा ।

आभयाक्ताऽप्रगरभत्वात् वक्तु नात्सहत यदा । तस्य कालः प्रदातव्यः कार्यशक्त्यनुरूपतः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रतिज्ञापादः

अथोत्तरपादः

तत्र वृहस्पतिः--

विानिश्चिने पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशेषिते । प्रतिज्ञार्थे स्थिरीभूते छेखयेदुत्तरं ततः॥

वादिना निश्चितस्थापि पक्षस्य पुनः पाड्विवाकादिभिार्वेचार्य कृते स्थैर्ये ततस्तत्पक्षस्थोत्तरं प्रतिवादी छेखयेदियर्थः। नारदोपि-

यदा त्वेवंविधः पक्षः कल्पितः पूर्ववादिना । दद्यात्तत्पक्षसंवन्धं प्रतिवादी तदोत्तरम् ॥

एवंतिध इयस्यार्थो हारीतेन विद्यतः— स्वरुपवर्णोऽर्थवहुलः प्रतिज्ञादोपवर्जितः ।

> साक्षिमान् कारणोपेतो निरवद्यस्मुनिश्चितः ॥ ईदृशः पूर्वपक्षस्तु लिखितो यत्र वादिना । दृशात्तरपक्षसम्बद्धं प्रतिवादी तदे।त्तरम् ॥

साक्षिमान् प्राड्विवाकादिमत्यवेक्षणवान् । यदा त्वनीदशस्तदाः न

दद्यादिसर्थसिद्धं स्पष्टियतुं पक्षाभासमेकमुदाहत्य तस्योत्तरं न देयामिसाह स एव-—

साधारणी च या भूमिर्यच द्रव्यं गणाश्रितम् ।

एकस्य प्रार्थयानस्य न वदेदुत्तरं वुधः ॥

इति । अतः परीक्षितपूर्वपक्षस्यैव प्रतिवादिना उत्तरं हेस्यमित्या

ह याज्ञवस्यः—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसन्निधो ।

इति । श्रुतभाषार्थस्य प्रत्यित इत्यक्षरार्थः । सङ्ग्रहकारोऽपि—

अनन्यार्थमहीनार्थं न्यायागमसमान्वतम् ।

अन्यूनानधिकादृष्टमनन्याक्षरसम्भवम् ॥

भाषायामिति पत्रेषु लिखितायामनन्तरम् ।

पत्यर्थिनदश्रुतार्थस्य कालोऽयं दातुमुत्तरम् ॥

इति । अनुनार्थिकारिकसण्यानं स्था भवति तथा भाषानं

इति । अनन्यार्थमिखादिलक्षणजातं यथा भवति तथा भाषायां लिखितायामिखर्थः । अयं च कालिनयमो गवादिविवादेष्वेव । तथाच नारदः —

गोभूहिरण्यस्त्रीस्तेयपारुष्यात्यियेतेषु च । क्रिक्ट के क्रिक्ट साहसेष्वभिद्यापे च सद्य एव विवादयेत् ॥ अभिशापः पापाभिशंसनम् । तस्य पारुष्यभेदत्वेऽष्यादरार्थे पुन-विचनम् । आत्यियिकं कात्यायनेनोक्तं—

व्यपेति गौरवं यत्र विनाशस्त्याग एव वा । कालं तत्र न कुर्वीत कार्यमासायिकं हि तत् ॥

तथाऽन्येष्वपि कार्येषु सद्य एवोत्तरं कार्यमित्याह स एव-धेनावनडुहि क्षेत्रे स्त्रीपु प्रजनने तथा। न्यासे याचितके दत्ते तथैव ऋयविऋये ॥ कन्याया दूषणे स्तये कलहे साहसे निधौ। उपधौ कौटसाक्ष्ये च सद्य एव विवादयेत ॥ उपिः भयादिवशादभ्युपगमः । याज्ञवलक्योपि-साइसस्तेयपारुष्यगोऽभिज्ञापासये स्नियाम् । विवादयेत्सय एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्पृतः॥ अन्यत्र ऋणादानादाविसर्थः । तथाच नारदः — गहनत्वादिवादानामसामध्यीत्समृतेरपि। ऋणादिषु हरेत्कालं कामं तत्त्ववुभुत्सया ॥ ऋणादिषु ऋणादानादिविवादपदेष्वित्यर्थः। अत एव पितामहः -ऋणोपनिधिनिक्षेपदानसम्भूयकर्मणाम् । समये दायभागे च कालः कार्यः पयत्रतः॥ एवमादिष्वपि कालदानं विस्मृत्यादिकारणतः प्रत्यर्थिनः काला-

र्थित्व एव । तथाच कात्यायनः—

श्रुत्वा लेख्यगतं त्वर्थे प्रत्यर्थी कारणाद्यदि ।

कालं विवादे याचेत तस्य देयो न संशयः ॥

सद्यः कृतेषु कार्येषु स्मृतिसंभवात्सय एव विवाद इत्याह स एव—

सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विवादयेत् ।

कालातीतेषु वा कालं द्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥

पत्यार्थन इत्युपलक्षणार्थम् । अत एव नारदः—

मितनेतिसहते यस्य विवादे वकुमिच्छतः ।

दातव्य एव कालस्त्याद्धिमत्यधिनोरिष ॥

दातव्यश्च कालः कियानित्यपेक्षिते स एवाह—

सद्य एकाहपश्चाहो व्यहं वा गुरुलाघवात् ।

लभेन्मासं त्रिपक्षं वा सप्ताहं वा ऋणादिषु ॥

गौतमोषि 'संवत्सरं मतिक्षेत' इति । अत्र व्यवस्थामाहः

कायायनः—

कालं शक्तिं विदित्वा तु कार्याणां च वलावलम् । अल्पं वा बहु वा कालं दद्यात्प्रसार्थिने प्रभुः ॥ कालः अर्थसम्बन्धादेः । शक्तिः कार्यिणाम् । कार्याणां सा-ध्यभूतार्थानाम् । श्लोकस्यार्थस्तु तेनैव प्रपश्चितः—

सद्यः कृते सद्य एव मासातीते दिनं भवेत् ।
पडाब्दिके त्रिरात्रं स्थात् सप्ताहं द्वादशाब्दिके ॥
विंशत्यब्दे दशाहं तु मासार्धे वा लभेत सः ।
मासं त्रिंशत्समातीते त्रिपक्षं परतो भवेत् ।
शक्तितो व्यवस्थां च प्रदर्शयाती—

कालं संवत्सरादर्शाक् स्वयमेव यथेप्सितम् । संवत्सरं जडोन्मत्तमनस्के व्याधिपीडितं ॥ दिगन्तरप्रपन्ने वा अज्ञातार्थे च वस्तुनि । मूलं वा साक्षिणां वाऽथ परदेशे स्थिता यदा ॥ तत्र कालो भवेत्पुंसामा स्वदेशसमागमात् । संवत्सरादर्वाग्दिनादिनानापक्षास्त्रिपक्षान्ताः कार्याणां शक्त्यनु-सारतः सभापतिना व्यवस्थापनीयाः । मूलं विवादाध्यासितं धनम् । तथा कार्यापेक्षया व्यवस्थां स्पष्टयति—

दिनं मासार्थमासौ वा ऋतुस्संवत्सरोपि वा।
क्रियास्थियनुरूपस्तु देयः कालः परेण तु॥
क्रियास्थितिः कार्यगुरुलाघवस्थितिः । एवं व्यवस्थापितान्यतमकाले संप्राप्ते पूर्वपक्षाक्षरार्थस्यान्यूनामितिरिक्तमुत्तरं लेख्यमिसाह बृहस्पतिः—

एककाले समानीते पत्यर्थां सभ्यसिन्नधौ ।

पूर्वपक्षाक्षरसमं लेखयेदुत्तरं ततः ॥
अत्र नृपं प्रसाह कात्यायनः—

यावान् यस्मिन् ममाचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
तं प्रतीक्ष्य यथान्यायम्रुत्तरं दापयेहृपः ॥
उत्तरस्रशं त्वाह प्रजापतिः—

पक्षस्य व्यापकं सारमसन्दिग्धमनाकुलम् । अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥ पक्षस्य व्यापकं कृत्स्नपक्षाच्छादकम् । सारं प्रागभियोगो-त्तरक्षमम् । असंदिग्धं खण्डश्लेपादिरहितम् । अनाकुलं अन्विता-र्थम् । अव्याख्यागम्यं सुवोधम् । हारीतोपि— पूर्वपक्षार्थसम्बद्धमनेकार्थमनाकुलम् । अनल्पमव्यस्तपदं व्यापकं नातिभूरि च ॥ सारभूतमसंदिग्धमपक्षेकांशसम्भवम् । अधिश्रवमगूढार्थे देयमुत्तरभीदशम् ॥

पूर्वपक्षार्थसम्बद्धं अभियोगानुगतम् । अनेकार्थं निष्कृष्टार्थ-जातम् । अव्यस्तपदं निश्चितप्रतिज्ञापूर्वकम् । अपक्षेकांशसंभवं अनवेश्वपितस्वपक्षेकदेशम् । अर्थिश्रवं पूर्वावेदकश्चतम् । अगूढार्थं अवकोक्तिप्रसिद्धपदैकवेद्यम् । एवंलक्षणमुत्तरं चतुर्विधं ज्ञेयम्—

चतुर्विधः पूर्वपक्षः प्रतिपक्षस्तथेव च।

इति वृहस्पतिस्मरणात् । कथं पुनः प्रतिपक्षचातुर्विध्यामित्यपेक्षिते नारदः—

मिथ्या सम्प्रतिपत्त्या वा प्रत्यवस्कन्द्नेन वा।
पाइन्यःयविधिसिद्धचा वाऽप्युत्तरं स्याचतुर्विधम्॥
इत्थंभूतलक्षणा चेयं तृतीया। तत्र मिथ्यासंप्रतिपत्त्योर्लक्षणमाह
कात्यायनः —

अभियुक्तोऽभियोगस्य याद कुर्यातु निह्नवम् । मित्थ्या तत्तु विजानीयात् उत्तरं व्यवहारतः ॥ साध्यस्य तथ्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता ।

इति । प्रत्यवस्कन्दनस्य च छक्षणं नारदेनोक्तम्— अधिना छिखितो योऽर्थः प्रसर्थी यदि तत्तथा । प्रपद्य कारणं ब्रूयात् प्रस्ववस्कन्दनं स्मृतम् ॥ Smritt Cha.—Vol. III इति । प्राङ्मचायस्य लक्षणमाह हारीतः— अस्मिन्नर्थे ममानेन वादः पूर्वमभूत्तदा । जितोऽयमिति चेद्र्यात् प्राङ्मचायं स्यात्तदुत्तरम् ॥ इति । एवमुक्तलक्षणान्युत्तराणि स्पष्टीकर्त्ते प्रजापतिनाऽप्युक्तानि -

यावदावेदितं किंचित् मत्सम्बन्धिमहाथिना । तावत्सर्वमसङ्कृतिमति मिथ्योत्तरं स्मृतम् ॥ अस्यव देयमेवैतत् नासद्भापितमधिना । इति संपतिपत्त्याख्यं द्वितीयमिद्मुत्तरम् ॥ दत्तमेवं ममानेन किं त्वस्यापि मया पुनः । प्रतिदत्तामितीदकच प्रस्वस्कन्दनं स्मृतम् ॥ अस्मिन्नर्थान्तरे पूर्वमारब्धेस्मचहमधिना । जितश्चायं मया तत्र पाङ्क्चायविधिरुच्यते ॥

अयं च शङ्क्ष्यायस्त्रिमकार इत्याह कासायनः— विभावयामि कुलिकैः साक्षिभिलिखितेन वा । जितश्चैव मयाऽयं प्राक् प्राङ्क्ष्यायस्त्रिमकारकः॥ कुलिकैरिति प्रकृतव्यवहारद्रपृषामुपलक्षणार्थम् । तथा मिथ्या

चतुःविधेत्याह स एव—

मिथ्येतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः।

अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधा॥

इति। एवं सप्रतिपत्तराप गृहीतं, सत्यं, यथाऽयं विक्त तथैवेसेव

माद्यो भेदा यथासम्भवमूहनीयाः। प्रस्वस्कन्दनस्यापि गृही-

¹ अस्ट्येतदेवमेवेतत् ॥ पा ॥

तं मितदत्तं, मितिग्रहेण वा छब्धिमिसादयो भेदा द्रष्टव्याः । अत्र बृहस्पतिः —

प्रसर्थिविधिराख्यातः सङ्गतार्थप्रपादने ।
चतुर्विधस्याप्यधुना यन्न प्राह्यं तदुच्यते ॥
प्रस्तुतादन्यमध्यस्थं न्यूनाधिकमसंगतम् ।
अव्याप्यसारं संदिग्धं प्रतिपक्षं न छेखयेत् ॥
प्रस्तुतादन्यत् अर्थिछिखिताभियोगापरिहारकम् । मध्यस्थं प्रतिपक्षभावराहितम् । असंगतं अभियोगाननुगतम् । कासायनोपि—
अप्रसिद्धं विरुद्धं यद्त्यल्पमितभूरि च ।

संदिग्धासम्भवाव्यक्तयन्यार्थं चातिदोषवत् ॥ अव्यापकं व्यस्तपदं निगूढार्थं तथाऽऽकुल्रम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं शस्यते वुधैः॥

इति । अत्राद्यान् पञ्चोत्तराभासान् स एव व्याचष्टे— चिह्नाकारसहस्रं तु समयं चाविजानता । भाषान्तरेण वा प्रोक्तमप्रसिद्धं तदुत्तरम् ॥

लाञ्छनावयवसंस्थानसङ्घासमयानभिज्ञोक्तमदेशभाषयोक्तं चा-प्रसिद्धमिसर्थः।

प्रतिदत्तं मया वाल्ये प्रतिदत्तं मया न हि । यदेवमाह विज्ञेयं विरुद्धं तदिहोत्तरम् ॥ पूर्वापरविरुद्धाभिधानं विरुद्धोत्तरमिसर्थः ।

जितः पुरा मयाऽयं च त्वर्थे अस्मिन्निति भाषितुम् ।

पुरा मयाऽयिमिति यत्तदूनं चोत्तरं स्मृतम् ॥ अस्मित्रर्थे पुराऽयं मया जित इति वक्तव्ये पुरा मयेसेतावन्मा त्रमुत्तरमसल्पीमसर्थः ।

गृहीतिमिति वाच्यं तु कार्यं तेन कृतं मया।
पुरा गृहीतं यद्रव्यमिति यचातिभूरि तत्॥
गृहीतिमित्येतावन्मात्रेण सत्योत्तरे वक्तव्ये कार्यं तेनेत्यादिकमु
त्तरमितभूरीत्यर्थः।

देयं मयेति वक्तव्ये मयादेयमितीदशम् । संदिग्धमुत्तरं ज्ञेयं व्यवहारे वुधैस्तथा ॥

मयादेयिमत्यत्र त्वकारमश्लेषसम्भवाददेयिमसप्यवगमात् सं-दिग्धमेवंविधिमसर्थः । असम्भव अस्माभिर्देयं धनमस्मत्प्रपात्र-पुत्रेण दत्तमिसेवंविधमुत्तरम् । अव्यक्तं एतदुत्तरिमिति सुस्नेना-भिधातुमशक्यम् । एतौ चोत्तराभासौ स्पष्टाविति न तेन व्या-च्यातौ । अन्यार्थे व्याचष्टे—

> वलावलेन चैतेन साहसं स्थापितं पुरा। अनुक्तमेतन्मन्यन्ते तदन्यार्थमितीरितम्॥

अर्थिनो यदसष्ट्रत्तकथन एव पर्यवसितं मिथोविरुद्धपदवच तद-न्यार्थिमिसर्थः । अतिदोषवत् अत्युक्तचा दोपवत्, शतं देय-मित्युक्ते द्विशतं दत्तमिसादि । अन्यापकादिचतुष्ट्यं तेनैव न्याख्यातम्— अस्मे दत्तं मया सार्धं सहस्राप्ति भाषिते ।

प्रतिद्त्तं तद्धं यत् तिद्हाच्यापकं स्मृतम् ॥

पूर्ववादी कियां यावत्सम्यङ्गेव निवेशयेत् ।

मया गृहीतं पूर्वं नो तद्वचस्तपदमुच्यते ॥

पूर्वपक्षानिश्चयाद्वीक् दीयमानं मिथ्यावाद्युत्तरं व्यस्तपदमित्यर्थः ।

तितंक तामरसं कश्चिद्गृहीतं प्रदास्यति । निगूढार्थे तु तत् ज्ञेयमुत्तरं व्यवहारतः ॥ अगृहीतं पद्ममतो न पददामीत्युदाहृतोत्तराभासस्यार्थः । सार्व-

भौमप्रयोगासिद्धतामरसादिपदवद्दक्रोक्तचादिमचोत्तरं निगूढार्थ विज्ञेयमिति श्लोकार्थः।

किं तेनैव सदादेयं मयादेयं भवेदिति ।

एतदाकुलमित्युक्तमुत्तरं तद्विदो विदुः ॥
अनिवतानेकपदार्थवदाकुलमित्यर्थः । व्याख्यागम्यं स्वतो दुरववोधम् । असारं तेनोक्तम्—

काकस्य दन्ता नो सान्ति सन्तीसादि यदुत्तरम् । असारमिति तत्त्वेन सम्यङ्कोत्तरामिष्यते ॥ काकदन्तसमुद्भवोत्तरविद्मष्योजनमसारमिसर्थः । तथैकस्यां भाषायां सत्यभिथ्याद्यनेकोत्तरमनुत्तरमित्याह स एव—

पक्षेकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् । मिथ्या चैवैकदेशे च सङ्करात्तदनुत्तरम् ॥ ननु साङ्कर्येऽपि तेन तेनोत्तरेण तस्य तस्यांशस्य निरसनद्वारो- त्तरसमुदायस्य कत्स्नपक्षव्यापकत्वसंभवात् कथमनुत्तरताः सत्यं, अत एवानुत्तरत्वसमर्थनार्थमुक्तं तेनैव—

> न चैकास्मिन् विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्धयोः। न चार्थसिद्धिरुभयोः न चैकत्र क्रियाद्वयम्॥

इति । अयमर्थः किया लिखितादिममाणं, तत्प्रत्यवस्कन्दने पाङ्कचाये च प्रत्यर्थिन एव भवति, मिध्योत्तरे त्वर्थिन एव। सत्ये तु न कस्चापीति वक्ष्यते । एवंच यत्र सत्येतरेपां त्रयाणां सङ्करः तत्र पत्यर्थिनः प्रमाणद्वयम्थिनश्चेकं प्रमाणं प्राप्नोति । यत्र सत्यमिथ्येतर्योद्वेयोस्तत्र प्रत्यर्थिन एव प्रमाणद्वयम्। यत्र पुनार्मध्याकरणयोर्मिध्याप्राङ्ग्याययोर्वा तत्रार्थिपस्रार्थनोरेक-मेकं प्रमाणम् । न च यथा प्राप्तं तथैवास्तिति वाच्यम्, प्र-माणं हि साध्यसिद्धचर्थं क्रियते, एकस्मिन्व्यवहारे चैकमेव साध्यमेकस्यैव वादिनः, तेन तत्र नोभयोः ममाणं, एकस्य वा प्रमाणद्वयं भवितुमहिति, उभयोस्साध्याभावात् । एकस्य सा-ध्यस्य चैकेन प्रमाणेन सिद्धावन्यस्य वैय्यर्थ्यात् । ससस्य त्वितरैस्सङ्करे यद्यपि नायं दोपः, तथाऽप्येकस्मिन् व्यवहारे पादचतुष्टये तद्धे च समाप्तिर्विरुद्धेति तत्राप्यनुत्तरस्वमेव । तः साद्युक्तमुक्तं 'सङ्कराचदनुचरम्' इति । एवंच सर्वत्र व्यवहारे प्तव्याप्येकमेवोत्तरं ग्राह्यम् । यत्र पुनः सर्वथा तथाविधमुत्तरं न लभ्यते, किंतु एकैकांशन्यापकमनेकमुत्तरं तत्रागत्योत्तरवशेन नानाप्रतिज्ञाः पक्षदोपपरिहाराय कृत्वा क्रमेणैकैकपतिज्ञाया एकै-

कमुत्तरं ग्राह्मम् । अन्यथा तत्र निर्णयाभाव एव स्वात् । अत एवोक्तं 'सङ्कराचदनुत्तरम्' इति । उक्तविधया सङ्करे निराकृते स्वादेवोत्तरमित्यभिपायः । अत एव चास्मित्नेव विषये हारी तेनोत्तरग्रहणे पौर्वापर्यं पश्चपूर्वकमुक्तम्—

> मिथ्योत्तरं कारणं च स्थातामेकत्र चेदुभे । सस्यं वाऽपि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम् ॥

पूर्विमिति शेषः । पूर्वे यद्भाहां तदाह—

यत्मभूतार्थविपयं यत्र वा स्वात् क्रियाफलम् । उत्तरं तत्र तत् ज्ञेयमसङ्कीर्णमतोऽन्यथा ॥

अयमर्थः — सत्येतरोत्तरानेकत्वे वहर्थविषयमग्रे ग्राह्म । सह सत्येनानेकत्वे वहर्थमिष सत्यं विहायोत्तरान्तरमेवादावुषादेयम्, सत्येकियाफलाभावादिति । न चैवं क्रमवाचिषदाध्याहारापत्ते -यंत्रोत्तरकाले पक्षव्यापकानेकोत्तरोपन्यासः, यथा — केनचिन्मा-नवेन मदीया गौर्नष्टा दृष्टाऽस्य सबनीत्यभियुक्तो वक्ति मिध्यै-तद्समद्भवन एव सा सम्भूतेत्येवमादि । तद्विषयमेवेदं वचनमिति वाच्यम् । यत उक्तं 'असङ्कीर्णमतोऽन्यथा ' इति,तस्यायमर्थः — असङ्कीर्णमृतरं एवंक्रमे भवति, अतोऽन्यथा यौगयद्ये सङ्की-णमेव स्यादिति । पक्षव्यापकानेकोत्तरे तु विकल्पविषये न जातुचित्सङ्करावसरः । तस्मात्सङ्करोत्तरविषयमेवेदं वचनम् । अत एव पक्षव्यापकानेकोत्तरविषये वचनान्तरमार्व्यं तेनेव — 'मिथ्याकरणयोर्वाऽपि ग्राह्यं कारणमुत्तरम्' इति । कारणोत्तरस्य अनन्यथासिद्धत्वादिना मिथ्यातो गुरु-तरत्वादित्यभिप्रायः । अतो मिथ्याकारणयोरुदाहरणमात्रत्वा-दुत्तरान्तरसन्त्रिपातेऽपि गुरुतरं ग्राह्यमित्यूह्यम् । यत्र पुनः सङ्कः रोत्तरे तुल्यवल्यतया न पूर्वोक्तक्रमहेतुरस्ति तत्राप्येच्छिकक्रमेणो-त्तरं ग्राह्यं निर्णयस्यावश्यकत्वात् । एवं निरूपितमुत्तरं प्रतिवा-दिना स्वयमेव देयम् । तथा च हारीतः—

तत्राभियोगानुगतमुत्तरं प्रतिवादिना । निष्कृष्टार्थे प्रदेयं स्यात् दोषसंज्ञाविवर्जितम् ॥ यदा पुनस्स्वयमेव न ददाति उत्तरं, प्रदानकालश्चातिक्रान्तः तदाऽष्याह स एव-—

पूर्वपक्षे यथार्थं तु न दद्यादुत्तरं यदा ।
प्रत्यर्थां दापनीयस्त्यात्सामादि।भरूपक्रमैः ॥
दापनीयो तृपेणोति शेषः । तथाच नारदः—
यथार्थमुत्तरं दद्यादददद्दापयेत्रृषः ।
सामभेदादिभिर्मार्गैर्यावत्सोर्थस्समुद्धृतः ॥
सामभेदादिभिर्मार्गैर्यावत्सोर्थस्समुद्धृतः ॥

सामादयो हारीतेन दींशताः—

पियपूर्व वचस्साम भेदस्तु भयदर्शनम् ।

अर्थापकर्षणं दानं दण्डस्ताडनवन्धनम् ॥

तथा वसिष्ठेनापि— कौटिल्यं सामभेदौ च दण्डश्चेति चतुष्टयम् । मायोपेक्षेन्द्रजालानि सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः ॥
इति । एतेरप्युपायेरसाध्यं प्रत्याह स एव—
उपायेश्चोद्यमानस्तु न दद्यादुत्तरं तु यः ।
अतिक्रान्ते सप्तरात्रे जितोसौ दातुमईतीति ॥
इति स्मृतिचन्द्रिकायामुत्तरपदः.

अथ विवादविषयाणि कार्निचिद्वचनानि छिख्यन्ते

तत्र याज्ञवल्क्यः---

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

इति । अनिस्तीर्य अपिरहसेस्यर्थः । अत्रापवादमाह स एव— कुर्यात्प्रसिभयोगं तु कलहे साहसेपु च । इति । प्रसपराधसम्भव इति शेपः । कलहे पारुष्यद्वय इत्यर्थः । अभियोक्तारं च पत्याह स एव—

अभियुक्तौ न चान्येन नोक्तं विषक्तिं नयेत्। इति । अन्येनाथिनाऽभियुक्तं तद्दिभयोगपरिहाराद्वीगन्योऽथीं नाभियुङ्जीत । तथाऽभियोक्तुमुक्तं सक्तुाऽन्यथा न वक्तव्यिमि-त्यर्थः। यः पुनरन्यथा विक्त सोऽन्यथावादित्वेन हीनो भवति । तथा च नारदः—

अन्यवादी ऋियाद्वेपी नोपस्थाता निरुत्तरः । आहूतविपछायी च हीनः पश्चविधः स्मृतः ॥ इति । तत्रान्यवादितया हीनस्तेन निरूपितः— Smritt Cha.—Vol. III. पूर्ववादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः ।

वादसङ्कमणात् ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥

पूर्ववाद आवेदनम् । तथा च कात्यायनः—

श्रावित्वा यथाकार्यं त्यजेदन्यद्वदेदसौ ।

अन्यपक्षाश्रयस्तेन कृतो वादी स हीयते ॥

तथा परमभियुज्य नाहमभियुनिज्म हत्येवं विरुद्धं यो वदेत्
सोऽप्यन्यवादितया हीन इत्याह स एव—

न मयाऽभिहितं कार्यमभियुज्य परं वदेत् ।

विद्युवंश्च भवेदेवं हीनं तमिप निर्दिशेत् ॥
तथाच पत्रिलितं पूर्वपक्षयन्यथा कुर्वन्नप्यन्यथावादितया हीन
इत्याह स एव—

लेखिरता तु यो वाक्यं हीनं वाऽष्यधिकं पुनः।
वदेद्वादी स हीयेत नाभियोगं तु सोऽहीत ॥
लेखियत्वा पत्र इति शेपः, भूम्यादावावापोद्धारस्य तेनैवोक्तत्वात् । अभियोगः पूर्वपक्षः तं कर्तुं नाईतीसर्थः।
एतच्चानईत्वमुत्तरे निष्टत्ते सित बदतो द्रष्टव्यम्। अनिष्टत्ते
त्तरे हीनतैव, नार्नहत्वं, ओत्तरनिष्टत्तेः पूर्वपक्षशोधनस्य
मोहादावगत्याऽभ्यनुज्ञानात् । तथा क्रियाद्वेपितयाऽनुपस्थायितया च हीनस्तैनेव निरूपितः—

सभ्याश्च साक्षिणश्चैव किया ज्ञेया मनीविभिः। तां कियां देष्टि यो मोहात् कियाद्वेषी स उच्यते॥ आह्वानादनुपस्थानात् सद्य एव महीयते । इति । आह्वानानन्तरमनागमने तदानीमेव हीनो भवतीयर्थः । तथा निरुत्तरतया हीनं निरूपियतुमाह स एव—

> बूहीत्युक्तोऽपि न ब्र्यात् सद्यो वन्धनमहिति । द्वितीयेऽहानि दुर्वुद्धेविद्यात्तस्य पराजयम् ॥

पराजयो हीनता । अत एव हारीतः--

सापदेशं हरेत्कालमबुवंश्चापि संसदि । उक्ता वचो विद्ववंश्च हीयमानस्य लक्षणम् ॥ सापदेशं सब्याजम् । तथाच कासायनः—

व्याजेनैव तु यत्रासौ दीर्घकालमभीष्सिति । सापदेशं तु तं विद्याद्वादहानिकरं स्मृतम् ॥

इति । आहूतविपलायी तु अभियोगपरिहारार्थमाहानं वुद्धा पच्छन्नचारी । एतेषां त्त्तरोत्तरस्य हीनाा गुर्वति ज्ञापयितुं हीनः पश्चविध इत्युक्तं, न पुनः पश्चविय एव हीन इत्य-वधारियतुं, विधाःतरतोऽपि हीनानां सारणात् । हीनताया गुरुत्यज्ञापनं त्तरोत्तरस्य दण्डभ्यस्तृज्ञापनार्थम् । उक्तं च तथा कासायनेन —

अन्यवादी पणान् पश्च क्रियाद्रेषी पणान् दश ।
नोपस्थाता दश द्रौ च पोडशैव निरुत्तरः ॥
आहूतविपल्लायी च पणान् ग्राह्यस्तु विंशतिम् ।
अत्र तृतीयपश्चमयोः दण्डनाप्तौ विशेषमाह स एव—

त्रिराह्तमनायान्तमाहृतविपलायिनम् ।
पश्चरात्रमितकान्तं विनयेत्तं महीपितः ॥
तथा प्रकरान्तरेणापि हीनस्तेन दर्शितः —
श्रावितव्यवहाराणामेकं यत्र प्रभेदयेत् ॥
वादिनं लोभयेचैव हीनं तिमिति निर्दिशेत् ॥
वृहस्पितनाऽपि—

भयं करोति भेदं वा भीषणं वा निरोधनम् ।
एतानि वादिनोऽर्थस्य व्यवहारे स हीयते ॥
अर्थव्यवहारे भयादीनि समस्तान्यसमस्तानि वा येन वादिना कृतानि स हीयत इसर्थः । भीषणं मुखान्तरेण भीत्युत्पादनम् । मनुनाऽपि—

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापहुते च यः । यश्चाधरोत्तरानर्थान्विहीनात्राववुध्यते ॥ अपिदश्यापदेशं च पुनर्यस्त्वपधावति । सम्यक्ष्माणिहितं चार्थे पृष्टसस्त्राभिनन्दति ॥ सन्ति ज्ञातार इत्युक्ता दिशेत्युक्तो दिशेत्र यः । धर्मस्थः कारणैरतैहींनोऽसाविति निर्दिशेत् ॥

इति । अयमर्थः--

अदेश्यं निर्णयसमयासम्भविनं साक्षिणं यो निर्दिशति, सम्भविनं वा निर्दिश्य योऽपहुते न मया निर्दिष्ट इति, यश्चात्मनो वचनगतक्रमविरोधं न जानाति, यः पुनस्प- देशं मम पीडा वर्तत इत्यादिन्याजमपदिन्य अपसरित, सम्यक्प्रणिहितं सुष्ट्रक्तमर्थमन् चात्र किं व्रवीपीति पृष्टो यो न किंचिदुत्तरं प्रस्तौति, यश्च साक्षिणः सन्तीत्युक्ता कथय तानित्युक्तोपि न कथयित असौ हीन इति धर्माधिकरणस्थः पूर्वोक्तकारणैर्निर्दिशेदिति । एतेष्विप हीनेपु दोपानुक्रपो दण्डो ग्राह्यः । तथा च हीनाधिकारे कात्यायनः—

दोषानुरूपं संग्राह्यः पुनर्वादो न विद्यते । इति । प्रकृतार्थिसद्धचर्थिमिति शेषः । अयं च प्रतिषेधो मन्युकृतविवाद एव, यत आह नारदः—

सर्वेष्वर्थविवादेषु वाक्छले नावसीदति ।
पश्चाभिम्यृणादाने शास्योष्यर्थात्र हीयते ॥
पश्चादिसर्वार्थविवादेषु वाक्छले प्रमादाभिधाने कृतेऽपि नावसीदित नात्यन्तं हीयते, यतस्तत्र दण्ड्यस्थापि न प्रकृतार्थहानिरित्यर्थः । अत्रापवादमाह कात्यायनः—

उभयोर्छिखिते वाक्ये प्रारब्धे कार्यानिश्चये । अनुक्तं तत्र यो ब्र्यात् तस्मादर्थात्स हीयते ॥ याज्ञवल्क्योपि—

संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत् । न चाहूतो वदेत् किंाचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः ॥ स्वतन्त्रः परीक्षकनिरपेक्षः । निष्पतेत् देयमदत्वा निष्पत्य तिष्ठेत्, पछायेत वा । दण्डग्रहणेनैव हीनत्वसिद्धेः पुनहींनग्रहः णं प्रकृतादर्थाद्धीन इति ज्ञापनार्थम् । अत एव नारदः— आनेवेद्य तु यो राज्ञे संदिग्धेऽर्थे प्रवर्तते । प्रसह्य स विनेयस्त्यात् स चाप्यर्थो न सिद्धचित ॥

इति । वृहस्पतिरापि--

आहृतप्रपलायी च मौनी साक्षिपराजितः। स्ववाक्यपतिपन्नश्च हीनवादी चतुर्विधः॥

स्वाक्यप्रातिपन्नः स्ववाचैव संप्रतिपन्नः । अत्रापि चतुर्विधग्रहण-मेतेपामुत्तरोत्तरस्याचिरं प्रकृताद्र्थाद्धीनत्वं भवतीति ज्ञापियतुं न पुनः प्रकृताद्र्याद्धीनश्रतुर्विध एवेति नियन्तुं, विधान्तरस्थाप्यु-क्तत्वात् । तत्र कदा कस्य हीनत्विमत्यपेक्षिते आह स एव—

प्रपलायी त्रिपक्षेण मौनक्रत्सप्ताभिर्दिनैः ।
साक्षिभित्रस्तत्क्षणेन प्रतिपत्रश्च हीयते ॥
तथा निर्दिष्टान् साहिषुरुपानवाद्यतोऽष्येवंविधहीनत्वं चि
रेण भवतीत्याह स एव—

साक्षिणस्तु समुद्दिश्य यस्तु तान्न विवादयेत्। त्रिंशद्रात्रात् त्रिपक्षाद्रा तस्य हानिः प्रजायते।। न वादयेत्काम र इतिं शेषः । तथाच कात्यायनः— साक्षिणो यस्तु निर्दिश्य कामता न विवादयेत्। स वादी हीयते तस्मात् त्रिंशद्वात्रात्परेण तु ॥

इति । अकामतश्रेन हीयते । अत एव वृहस्पतिः— आचारकरणे दिच्ये कृत्वोपस्थानिश्रयम् । नोपस्थितो यदा कश्चिच्छलं तत्र न कारयेत् ॥ दैवराजकृतो दोपस्तस्मिन् काले यदा भवेत् । अविध्यागमात्रेण न भवेत्स पराजितः ॥

इति । 'छल्लं तत्र न कारयेत्' इति वदन् अन्यत्रार्थहानि मितिपादकवचनच्छल्लानिरसनेनापि व्यवहारनयनं कार्यमिति ज्ञापयति । एवंचार्थविवादेषु यत्र नार्थहानिवचनं तत्रैव हीन स्य वादो ग्राह्यो नान्यत्रेयवगन्तव्यम् । अत एव कात्यायनः—

पलायनानुत्तरत्वादन्यपक्षाश्रयेण च । हीनस्य गृह्यंते वादो न स्ववाक्यजितस्य तु ॥ इति । पलायनादाववधिभूतकालातिकमणेनागमनादिकर्तुरर्थ-हान्यभावाद्वादो ग्राह्य इसर्थः । तत्र यदि हीनेनेतरस्य पराजयः तदा विशेषस्तेनैव दक्षितः—

यो हीनवाक्येन जितस्तस्योद्धारं विदुर्वधाः ।
स्वताक्यहीनो यस्तु स्यात्तस्योद्धारो न विद्यते ॥
इति । याज्ञवल्क्यस्तु दुष्ट्वादिपरिज्ञानार्थमाह—
देशादेशान्तरं याति स्रक्किणी परिलेढि च ।
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं वहु भाषते ।
वाक्चक्षुः पूजयित नो तथोष्ठो निर्भुजसिप ॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाकायकर्मभिः ।
अभियोगेऽथ साक्ष्ये च दुष्टस्स परिकीर्तितः॥

इति । सिक्वणी ओष्ठशान्तौ । निर्भुजिति कुटिलीकरोति । स्व भावाद्विकृतिं गच्छेत् स्वाभाविकधर्माद्वैपरीत्यमेवं गच्छेदित्यर्थः। मनुरापि—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥
इति । दुष्टस्योति शेषः । एवं दुष्टान्तःकरणतया ज्ञातस्यापि
न दण्डो न प्रकृतार्थाद्धानिर्वा । तयोर्मुनिभिरनभिधानात् । अदु-

ष्टस्यापि कथंचिदेवंविधचिह्नान्वयसम्भवात् । दुष्टाभिधायकवच-नानां च तद्रक्षणादाववधानविधानार्थत्वेनावैयर्थ्यात् । ये पुनरे-कान्तपराजयभयादर्वाक् प्रमाणकरणात् स्वतोऽपि वादतो

निवर्तन्ते ते दण्ड्या इत्याह वृहस्पातिः--

पूर्वोत्तरे संनिविष्टे विचारे सम्प्रवर्तिते ।

पशमं ये मिथो यान्ति दाप्यास्ते द्विगुणं दमम् ॥

इति । मिथो यान्ति नृपं वश्चयित्वेति शेपः । अत एव
कात्यायनः—

आवेद्य प्रगृहीतार्थाः प्रशमं यान्ति ये मिथः।
सर्वे द्विगुणदण्ड्यास्स्युः विष्ठमभात्रृपस्य ते॥
इति । एवंचावश्चनया प्रशान्तानां न दण्डः । अत एव
वृहस्पातिः—

पूर्वोत्तरेऽभिलिखिते प्रकान्ते कार्यनिर्णये । द्वयोस्संतप्तयोस्तन्धिस्स्यादयः खण्डयोरिव ॥

साक्षिसभ्यविकल्पस्तु भवेतत्रोभयोरिष ।
डोळायमाने यौ सिन्धं प्रकुर्यातां विचक्षणौ ॥
प्रमाणसमतो यत्र भेद्इशास्त्रचरित्रयोः ।
तत्र राजाज्ञया सिन्धक्भयोरिष शस्यते ॥
इति । एकस्य वादिनः एकान्तपराजयादवीक् यौ सिन्धं प्रकुर्यान्तां तौ विचक्षणावित्यर्थः ।

इति स्मृतिचिन्द्रकायां विवादविषयाणि.

अथ प्रत्याकितपादः.

तत्र वृहस्पतिः —

ये तु तिष्ठन्ति करणे तेपां सभ्योर्वभावना ।
कथित्वोत्तरं सम्यक् दातव्येकस्य वादिनः ॥
तेपां धर्माधिकरणस्थानां मध्ये एकस्यार्थिनः प्रसार्थेनो वा विभावना क्रिया सभ्येर्निर्धारीयतव्येत्यर्थः । तथाच कात्यायनः—
शोधिते लिखिते सम्यगिति निर्दोष उत्तरे ।
प्रसार्थेनोऽर्थिनो वाऽपि क्रियाकरणामिष्यते ॥

अर्थिनः प्रत्यिथनो वा यस्य साध्यमित असौ तत्साध्यसिद्धये सदुत्तरानन्तरमेव प्रमाणलेखनं कुर्यादिसर्थः। तथाच याज्ञवल्क्यः-ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ।

इति । उत्तरसिद्धिसमनन्तरमेव साध्यवान् वादी ममाणमु-द्भावयेदित्यर्थः । किं तत्प्रमाणमित्यपेक्षिते स एवाह—

SMRITI CHA.—Vol. III

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् । एपामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥

दिव्यं घटादिः। तथाच नारदः--

क्रिया तु द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा ।

मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां घटादिँदैविकी स्मृता ॥

लेख्यसाक्षिभ्यां भुक्तचा च प्रोक्ता मानुषीसर्थः । भुक्तेरापि

मनुष्यसम्वान्धित्वात् । अत एव वृहस्पतिः—

साक्षिलेख्यानुमानं च मानुषी त्रिविधा स्मृता । इति । अनुमानं भुक्तिः, स्वत्वानुक्षपकत्वात् । धटादिरापि तेनैव दार्शितः—

घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमम्।
षष्ठं च तण्डुलाः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमापकम्॥
अष्टमं फालामित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत्।
दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयंभुवा॥

इति । अन्यानि तु दिव्यानि नारदेन निार्देष्टानि— सत्यं वाहनशस्त्राणि गोवीजकनकानि च । देवतापितृपादाश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥

इति । चशब्दोऽन्येपामपि पुत्रशिरस्स्पर्शनादीनां सङ्ग्रहणार्थः । एते च धटादयः ससादयश्च दिवि देवैः कृतत्वादिव्यदैविकसं-ज्ञाद्वयशालिनः । तथाच पितामहः—

यस्माद्देवैः प्रयुक्तानि पुष्करार्थे मनीपिभिः ।

परस्परिवशुद्धचर्थं तस्माद्दिव्यानि नामतः ॥
अत्रोपक्रमसामर्थ्याद्दैविकानि नामत इति लभ्यते, देवैः प्रयुक्तानीति निमित्तदर्शनात् । उपसंहारसामर्थ्याद्दिवि संभवनिमित्तानीति गम्यते, दिव्यानि नामत इयुक्तत्वात् । तेन श्रुत्य-र्थाभ्यामनेन वचनेन धटादीनामाजिगमनादाज्यमितिवद्यौगिकं नामद्वयमुक्तम् । शपथनाम नारदेनैव तेपामेव दर्शितं—

सप्तर्पयस्तथेन्द्राद्याः पुष्करार्थे तपोधनाः । शेपुरुशपथमन्यग्राः परस्पराविशुद्धये ॥

इति । न्यासोपि— अर्थानुरूपाश्चपथाः स्मृतास्संयधटादयः ।

इति । यतु वृहस्पतिनोक्तं—

धटाद्या धर्मजान्ता च देवी नवविधा स्मृता । इति, तत्र स्वयंभुवेति शेषो द्रष्टव्यः । नारदस्मृतसत्यादिभिस्स- ह दैव्या वस्तुतो वहुविधत्वात् । या पुनर्नारदीये दिव्यशपथयोः भेदेनोक्तिः—

यदा साक्षी न विद्येत विवादं वदतां तृणाम् ।
तदा दिव्यैः परीक्षेत शपथैवी पृथिग्विषैः ॥
इति, सा गुरुषु दिव्यशव्दो छघुषु शपथशव्दः प्रायिक इति दश्रीयतुं, न पुनस्तयोर्थभेदकथनाय, छोके नयोः पर्यायशब्दत्वात् ।
साक्षी न विद्यते इति छिखितादित्रयाभावोपछक्षणार्थः । याज्ञवल्क्येनाशेषमानुषाभावे दिव्यस्मरणात् । अत एव—

सम्भवे साक्षिणां पाज्ञो दैविकीं वर्जयेत् कियाम् । संभवे तु प्रयुक्षानो दैविकीं हीयते ततः ॥ इति । कात्यायनवचनेऽपि साक्षिग्रहणं मानुपोपछणार्थीमिति मन्तव्यम् । तथा—

दिवाकृते कार्यविधौ ग्रामेषु नगरेषु च ।
संभवे साक्षिणां चैव दैवी न भवति क्रिया ॥
इति नारदवचने श्रिप दिवाकृतादिसंकीर्तनं मानुषप्रमाणसंभवे
दिव्यनिषेधार्थमवगन्तव्यम् । अत एव कात्यायनः—

यद्येकदेशव्याप्ताऽपि किया विद्येत मानुपी ।
सा ग्राह्या न तु पूर्णाऽपि दैविकी वदतां नृणाम् ॥
विशिष्टसाध्ये विशेष्यांशे मानुषसंभवे विशिष्टार्थसाधकमापि
न दिव्यं ग्राह्यमित्यर्थः । विशेषणांशसिद्धिस्तु विभावितैकदेशन्यायादलपशपथेन वा कार्येसभिषायः । न च वाच्यं
एकदेश इत्यविशेषवचनाद्विशेषणांशे विशेष्यांशे वा मानुषसंभवे
दिव्यं निषिध्यत इति । यत आह स एव—

सारभूतं पदं मुक्ता असाराणि वहून्यपि ।
संसाधयेत् क्रिया या तु तां जहात् सारवर्जिताम् ॥
इति । तथा विवादिनोः कथंचिदैवमानुपयोरन्यतरत् प्रमाणमन्यतरेण वादिना कृतं निर्णायकमित्यङ्गीकारेऽपि मानुपसंभवे
तदेव निर्णायकं न दैविकमित्याह स एव—

यद्येको मानुपीं ब्रूयात् अन्यो ब्रूयातु दैविकीम्।

मानुपीं तत्र गृह्णीयात्र तु दैवीं कियां तृपः ॥
एवं च सर्वथा मानुपासम्भवे दिव्यमित्युत्सर्गः । काचिद्रस्थापवादमाह स एव—

प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भवेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव वा॥ अयं च विकल्पो गूढसाहसिकेतरविषयः। तत्र मानुपासंभवेन विकल्पासम्भवात्। अत एवोक्तं तेनैव—

गूढसाहासिकानां तु प्राप्तं दिन्यैः परीक्षणम् । युक्तिचिहेक्तिताकारवावचक्षुश्रेष्टितैर्नुणाम् ॥

गूढसाहासिकानां मुख्यवेष्टनादिवशाद छक्ष्यमूर्तीनामिसर्थः । यु-क्तिचिद्वादेरप्यभावे तेषां दिन्यं, न पुनः साक्ष्याद्यभावमात्र इति दर्शियतुं पुनर्वचनारम्भः । तथोत्तमसाहसिकानां प्रकटानामपि दिन्येनैव परीक्षणमित्याह स एव—

उत्तमेषु च सर्वेषु साहसेषु विचारयेत् । सद्भावं दिव्यदृष्टेन सत्सु साक्षिषु वै भृगुः ॥ ऋणविवादेषु तु विशेषमाह नारदः—

प्रमादाद्धिनेनो यत्र न लेख्यं न च साक्षिणः। अर्थं चापहुते वादी तस्त्रोक्तः त्रिविधो विधिः॥ वःदी गृहीतधनः। विधिः धनसाधनोपायः। सोपि तेनैव दार्श्वतः—

चोदना प्रतिकालं च युक्तिलेशस्त्रथैव च ।

तृतीयश्शपथः प्रोक्तः ते ऋणं साधयेत् क्रमात् ॥
प्रातिकालं चोदना प्रत्यपणकालो यदा यदा प्राप्तस्तदा
तदा मदीयं दीयतामिति त्रिश्चतुःपञ्चकृत्वो वा मध्यस्थजनसमक्षं अन्येनाप्रतिहता प्रतिदानपरणा, सा प्रथम उपायः ।
तदसंभवे युक्तिलेशः अमुष्मिन्देशे अमुष्मिन्कालेऽमुनाऽर्थसंबन्धेन
इयत्परिमाणमेतत्कर्मार्थं ऋणं गृहीतं त्वया इत्यादि द्वितीयोपायः।
तस्याष्यसंभवे तृतीयोपायः शपथ इत्यर्थः । अयं चार्थः
तेनैव दिश्चतः—

अभीक्ष्णं चोद्यमानोपि प्रतिहन्यात्र तहचः।
तिश्रतःपश्चक्रत्वो वा परतोऽर्थ समाचरेत्॥
चोदनाप्रतिवाते तु युक्तिलेशैस्समन्वियात्।
देशकालार्थसंवन्थपरिमाणिकयादिभिः॥
युक्तिष्वप्यसम्भास शप्थेरेव निर्णयेत्।
अर्थकालवलापेक्षरग्रचम्बुसुकतादिभिः॥
कात्यायनोपि—

ऋणे लेख्यं साक्षिणो वा युक्तिलेशादयोपि वा ।
दैविकी वा क्रिया मोक्ता प्रजानां हितकाम्यया ॥
तथा विवादमात्रं पत्याह स एव —
प्रमाणेहेंतुना वाऽपि दिच्येनैव तु निश्चयम् ।
सर्वेष्वेव विवादेषु सदा कुर्यान्नराधिषः ॥
सर्वाभावे तु यन्नेन नान्यथैव कदाचन ॥

इति । प्रमाणशब्दहेतुशब्दयोर्थमाह व्यासः—

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
अनुमानं विदुर्हेतुस्तर्कश्चेति मनीपिणः ॥

इति । एवं च दृष्टप्रमाणेनासिद्धावदृष्टं प्रमाणमाश्रयणीयं नान्यथोति तात्पर्यार्थः । कचित् दृष्टेनासिद्धावप्यदृष्टं नाश्रयणीयामिसाह
वृहस्पतिः—

सत्यं वादी समाप्नोति यद्यत्तेन निवेदितम् ॥

वादी प्रत्यर्थी, तस्यैव तत्र साध्यवादित्वात् । अत एव वृहस्पतिः-

माङ्गचाये प्रत्यवस्कन्दे प्रत्यर्थी साधयेत्स्वयम् । उत्तरार्थे प्रतिज्ञार्थे अर्थी मिथ्योत्तरे पुनः॥

मिथ्योत्तरेऽभ्युपगमाभावेन भाषार्थस्य साध्यताहानात् मति-ज्ञातार्थमथ्येव साध्येदित्यर्थः । कारणोत्तरे तु भाषार्थस्याभ्यु-पगमादेव साध्यत्वाहानान्न प्रतिज्ञावादिनः प्रतिज्ञातार्थसा-धनं, किं त्त्तरार्थे अथिना यदनभ्युपगतं कारणं तदेव प्रत्यार्थ-ना प्रमाणेन साध्यम् । अत एव कात्यायनः—

प्रपद्य कारणं पूर्वमन्यहुरुतरं यदि ।

प्रतिवाक्यगतं ब्र्यात्साध्यते तिद्धं नेतरत् ॥
पूर्वं प्रतिज्ञावादिनोक्तं प्रपद्य अङ्गीकृत्य अन्यहुरुतरमङ्गीकृतप्रतिज्ञातार्थोपमदेनक्षमं कारणं प्रत्यपणादिकं प्रतिवाक्यगतमुत्तरवाक्यस्थं यदि प्रत्यर्थी ब्र्यात् तदा तदेव किल तेन साध्यते,
अर्थिनाऽनङ्गीकृतत्वात् । नेतरत् प्रत्यिधनाऽङ्गीकृतं प्रतिज्ञातार्थः
जातं अर्थिना साध्यत इत्यर्थः । प्रपद्यत्युपलक्षणार्थं, तेन प्रप्रतिज्ञावादिनोक्तं मिथ्येत्युक्ता कारणाभिधानेऽपि कारणमेव साध्यते ।

मिथ्याकारणयोर्वाऽपि ग्राह्यं कारणमुत्तरम् । इति हारीतस्मरणात् । तथा सत्योत्तरे न कस्यापि वादिनः कियेत्याह स एव—

पाङ्कचायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् ।

पिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥

भाषायामुक्तरे च साध्यार्थीभावादित्यभिप्रायः । अतः सम्प्रतिपत्तौ द्विपाक्तवव्यवहारः । तथाच कात्यायनः—

मिथ्योक्तौ स चतुष्पात् स्यात् प्रत्यवस्कन्दने तथा।
पाङ्गचाये च स विज्ञेयो द्विपात्सम्प्रतिपत्तिषु ॥
तेन सम्प्रतिपत्तौ कियानिर्देशाद्यभावादुत्तरान्त एव व्यवहारः
समाप्यते । एवंच मिथ्याकारणयोमीनुपी दैविकी किया,
पाङ्गचाये तु मानुष्येव सत्ये न काचिदित्यनुसन्धेयम् । मिथ्याकारणयोरपि कचिन्न दैविकीत्याह वृहस्पतिः—

वाक्पारुष्ये महीवादे निपिद्धा दैविकी किया। इति । तेन तां तत्र न कल्पयेदित्यभिप्रायः । अत एव कात्या-यनः -

वाक्पारुष्ये च भूमौ च दिव्यं न परिकल्पयेत । इति । नन्वनेनैव वाक्पारुष्ये दिव्यमुक्तं 'प्रकान्ते ' इत्यादिना । ससमुक्तं तत्तु महापारुप्यविषयं, इदं त्वलपपारुष्यविषयामिति न किंचिद्विरुद्धम् । भूमाविति स्थावरोपलक्षणार्थम् । अत् एव पितामहः —

स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत । साक्षिभिछिखितेनाथ भुक्तचा चैतान् प्रसाधयेत्॥ अत्र मानुपासंभवे हेतुना निर्णयः, तदसम्भवे राजाज्ञयोति म न्तव्यम् । तथा कचिद्दिव्यनियमार्थमाहः स एव-

> महाशापाभिशापेषु निक्षेपहरणे तथा। दिव्यैः कार्यं परीक्षेत राजा सत्स्विप साक्षिषु ॥

कात्यायनोपि-समत्वं साक्षिणां यत्र दिन्यैस्तत्रापि शोधयेत्। प्राणान्तिकविवादे वा विद्यमानेषु साक्षिषु ॥

दिव्यमालम्बते वादी न पृच्छेत्तत्र साक्षिणम्।

इति । बृहस्पतिरापि-

लिखिते साक्षिवादे च संदेही जायते यदा। अनुमान च सम्भ्रान्ते तत्र दैवं विशोधनम् ॥ SMRITI CHA.-Vol. III

अनुमानं भुक्तिः उल्काहस्तत्वादियुक्तिश्च । व्यासोपि—

मयैतन्न कृतं लेख्यं कूटमन्येन कारितम् ।

अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः ॥

निर्णेतव्येऽथें निर्णयं दिव्येन कुर्यादिसर्थः । कात्यायनोपि—

यत्र स्वात्सोपधं लेख्यं तद्राज्ञक्श्रावितं यदि ।

दिव्येन शोधयेत्तत्र राजा धर्मासनस्थितः ॥

तथा क्विचिल्लेख्यस्य क्विचद्धक्तेः क्विचित्साक्षिणश्च सित सम्भवे

नियमार्थमाह स एव—

पूगश्रेणीगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता।
तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः॥
द्वारमागिक्रियाभोगजलवाहादिके तथा।
भ्रुक्तिरेव हि गुर्वी स्यात् न लेख्यं न च साक्षिणः॥
दत्तादत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिना निर्णये सित।
विक्रयादानसम्बन्धे कीत्वा धनमयच्छिति॥
द्यूते समाह्रये चैव विवादे समुपस्थिते।
साक्षिणस्साधनं शोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्॥
इति। एवम्रुक्ता प्रमाणस्य व्यवस्था परीक्षकैः परिपालनीयेत्याह
नारदः—

प्रमाणानि प्रमाणज्ञैः परिपाल्यानि यत्नतः। सीदन्ति हि प्रमाणानि प्रमाणेरव्यवस्थितैः॥ अव्यवस्थितैः प्रमाणैः प्रमाणकर्तारो यतो विनद्यन्ति अतः कस्यात्र किं प्रमाणं लेख्यमिति पत्याकलनकुशलैः प्रसाकलिय-तन्यमित्यर्थः । अत्र कैश्चित् पण्डितंपन्यैः—न स्थावरेषु लिखिता-दिकथनं प्रमाणिनयमाय, किंतु प्रायिकत्वप्रदर्शनार्थः, अन्यथा कथंचिल्लेख्यादिनाशे निर्णयाभावः स्वादित्युक्तं, तद्युक्तम्— नियमार्थत्वेऽपि युक्तिभिः पार्थिववचनाद्वा निर्णयसम्भवात् । अत एव पितामहः—

लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः। न च दिव्यावतारोस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः॥ निश्चेतुं ये न शक्यास्स्युवीदास्संदिग्धक्षिणः। तेषां नृपः प्रमाणं स्थात् स सर्वस्य प्रभुवतः॥

इति । अत एव दृष्टादृष्टप्रमाणसुक्का उक्तं व्यासेन— एषामभावे राजाज्ञा निर्णयं तु विद्र्वेधाः।

इति । प्रमाणानां स्वरूपतो निपेधवशाद्वा असम्भवे निर्णयो राजाज्ञया भवतीत्यर्थः ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रत्याकालेतपादः

अथ कियापादः

तत्र बृहस्पतिः —

श्रुत्वा पूर्वोत्तरं सभ्यैः निर्दिष्टा यस्य भावना । विभावयेत्मतिज्ञातं सोऽखिलं लिखितादिना ॥

भावना क्रिया । नारदोपि—

पूर्ववादेऽभिलिखिते यथाऽक्षरमशेषतः ।

अर्थी तृतीयपादे तु क्रियया प्रतिपादयेतु ॥

पूर्ववादो भाषा । अभिलिखितं पूर्वपक्षाभिभावकतया लिखितमुत्तरिमिति यावत् । तृतीयपादः प्रत्याकलिताख्यः । तिसान्
सिति किया प्रमाणम् । एवं चायमर्थः—भाषोत्तरप्रत्याकलिताख्यपादत्रये मिति कियया प्रतिपादयेत् स्वकार्यमर्थी प्रमाणेन साधयेदिति । कार्यकियाशब्दयोर्थमाह व्यासः—

कार्य हि साध्यमित्युक्तं साधनं हि कियोच्यते । द्विभेदा सा पुनर्ज्ञेया मानुषी दैविकी तथा ॥ साधनं प्रमाणम् । वृहस्पतिरापि क्रियाभेदमाह— द्विप्रकारा क्रिया प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा । एकेकाऽनेकधा भिन्ना मुनिभिक्तत्त्ववेदिभिः ॥ कासायनोपि—

पश्चमकारं देवं स्थान्मानुषं त्रिविधं स्मृतम् ।
इति । पश्चमकारामिति नावधारणार्थम् । तण्डुलतप्तमाषादिविधानतरस्यापि दैविकस्य स्मृत्यन्तरे दर्शनात् । त्रिविधमिति नियमार्थमेव, स्मृत्युत्तराविसंवादात् । अत एवात्रं त्रिविधं स्मृतमिसर्थः । यत्पुनर्नारदेनोक्तं—

लिखितं साक्षिणश्चात्र द्वौ विधी परिकीर्तितौ । इति, न तत्सङ्खचानियमार्थम् । तथात्वे—

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः भमाणं त्रिविधं स्मृतम् । इति स्ववचनेन विरोधापित्तस्त्रादतो भुक्तितो बहुविषयत्विम-तरयोरिति वक्तं 'द्रौ विधी परिकीतितौ' इत्युक्तिमित्यवगन्तव्यम् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां क्रियाभेदाः

अथ लेख्यनिरूपणम्

तत्र वसिष्ठः—

लौकिकं राजकीयं च लेख्यं विद्यात् द्विलक्षणम्।

इति । लौकिकं जानपदम् । तथाच सङ्ग्हकारः — राजकीयं जानपदं द्विविधं लिखितं स्मृतम् ।

इति । तत्र राजकीयं शासनादिभेदेन चतुर्विधिमत्याह वसिष्ठः— शासनं प्रथमं ज्ञेयं जयपत्रं तथाऽपरम् । आज्ञामज्ञापनापत्रं राजकीयं चतुर्विधम् ॥

तंत्र शासनं निक्पियतुमाह याज्ञवल्क्यः —

दत्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा छेख्यं तु कारयेत् । आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥

निवन्धः वाणिज्यादिकारिभिः प्रतिवर्षं प्रतिमासं वा किंचिद्धनः
मसौ ब्राह्मणायास्यै देवतायै वा देयमिसादिप्रभुसमयलभ्योऽर्थः।
अत्र यद्यपि धनदातृत्वं वाणिज्यादिकर्तुः, तथाऽपि निवन्धकर्तुः
रेव पुण्यं, तदुद्देशेतैवेतरस्य प्रवृत्तेः । भूमिमिति ब्रामारामादीना
मुपलक्षणार्थम् । अत एव वृहस्पतिः—

द्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टे तथा पटे।
शासनं कारयेद्धम्यं स्थानवंशादिसंयुतम्॥
कारयेत् सन्धिविग्रहाद्यधिकारिणोति शेषः। तस्यैवात्र छेखने
कर्तृत्वनियमात्। तथाच व्यासः—

राज्ञा तु स्वयमादिष्टः सन्धिविग्रहलेखकः।

ताम्रपट्टे पटे वाऽपि विलिखेद्राजशासनम् ॥
कियाकारकसम्बन्धं समासार्थिकियान्वितम् ।
इति । क्रियाकारकयोः सम्बन्धो यस्मिन् शासने तत्तथोक्तम् ।
समासार्थिकियान्वितं संक्षिप्तार्थोपन्यासिकयया समन्वितमित्यर्थः।
ताम्रपट्टादौ लेखनीयमर्थमाह याज्ञवल्क्यः—

अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः । प्रतिग्रहपरीमाणदानच्छेदोपवर्णनम् ॥

इति । उड्डतमहीमण्डलस्य श्रीपतेर्वराहवपुषः वरदानमितपादकमाशीर्वादमादावाचारमाप्तमिभिलेख्यानन्तरमात्मनो वंश्यान् मपितामहिपतामहिपत्राख्यान् त्रीनुक्तक्रमेण शौर्यादिगुणवर्णनद्वाराऽऽत्मानं चतुर्थमिभिलेख्य मितग्रहपरिमाणादिकं लेखयेदित्यर्थः । प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहो भूम्यादिः निवन्धश्च । तस्य
परिमाणिमयत्ता । दानच्छेदो दीयमानभूम्यादेर्भर्यादा । व्यासोपि—

समामासतदर्धाहर्रुपनामोपलक्षितम् ।
प्रतिग्रहीतृजासादिसगोत्रब्रह्मचारिकम् ॥
इति । संप्रदानस्यासाधारणत्वाववोधकं जातिकुलशाखादिकमपि लेखनीयमित्युत्तरार्धस्यार्थः । तथाऽन्यदपि लेखनीयं स
एवाह—

स्थानं वंशानुपूर्व्यं च देशं ग्राममुपागतम् । ब्राह्मणस्य तथा चान्यान् मान्यानिधकृतान् लिखेत् ॥ कुदुम्बिनोऽथ कार्यस्थदृतवैद्यमहत्तरान् । म्लेच्छचण्डालपर्यन्तान् सर्वान् संवोधयिन्निति ॥ मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यायामुकस्ननवे । दत्तं मयाऽमुकायाथ दानं सब्रह्मचारिणे ॥

इति । वृहस्पतिरपि—
अनाच्छेद्यमनाहार्ये सर्वभाव्यविवार्जेतम् ।
चन्द्रार्कसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयानुगम् ॥
दातुः पालयितुस्स्वर्गं हर्तुर्नरकमेव च ।
पष्टिं वर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं लिखेत् ॥

इति । आगामिनृपादिवोधनार्थमिति शेषः । अत एव व्यासः – पष्टिं वर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं तथा ! आगामिनृपसामन्तवोधनार्थं नृपो लिखेत् ॥

तथा श्लोकान्तरमि छेखनीयं तेनैव पाठतं— सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः। सर्वानेतान् भाविनः पाथिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः॥

इति । ततो राजा स्वयं स्वहस्तं छिखेत् । तथाच स एव— संनिवेशं प्रमाणं च स्वहस्तं च छिखेत्स्वयम् । इति । मतं मेऽमुकपुत्रस्य अमुकस्य महीपतेर्यदत्रोपरि छिखित-मिति स्वयं छिखेदित्यर्थः । छेखकश्च स्वनाम छिखेत् तथाच स एव— सिन्धिवग्रहकारी च भवेद्यश्चापि लेखकः।
स्वयं राज्ञा समादिष्टः स लिखेद्राजशासनम्॥
स्वनाम तु लिखेत्पश्चात् मुद्रितं राजमुद्रया।
ग्रामक्षेत्रग्रहादीनामीहक् स्याद्राजशासनम्॥

इति । एतच प्रतिग्रहीतुर्रपणीयं, तस्योपयोगित्वात् । अत एव विष्णुः —

> 'पटे वा ताम्रपट्टे वा लिखितं समुद्राङ्कं चागामि-नृपातिपरिज्ञानार्थं दद्यात्'

इति । सङ्ग्रहकारोपि—
राजस्वहस्तचिद्वेन राजादेशेन संयुतम् ।
युक्तं राजाभिधानेन मुद्रितं राजमुद्रया ॥
स्विष्टिप्यनपशब्दोक्तिसंपूर्णावयवाक्षरम् ।
शासनं राजदत्तं स्थात् सन्धिविग्रहस्रेखकैः ॥

इति । सन्धिविग्रहलेखकैः लिखितमुक्तविधमन्यस्मे राज्ञा दत्तं शासनाख्यं स्यादित्यर्थः । एतच शासनं न दानसिद्धगर्थं, तस्य प्रतिग्रहेणैव सिद्धेः, किंतु दत्तस्य स्थैर्यकरणार्थं, स्थिरत्वे अक्षय-फलश्चतेः । तथाहि—

रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिस्तरस्विनी । तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैवुधं पदम् ॥ अनेनैवाभिप्रायेण याज्ञवल्क्येनाप्युक्तम्— स्वहस्तकालसंपन्नं शासनं कारयेत् स्थिरम् । इति । कालसंपन्नं वत्सरादिविशेषितदानादिनोषेतम् । तथाच व्यासः—

> ज्ञातं मयेति लिखितं दात्राऽध्यक्षाक्षरैर्युतम् । अब्दमासतदर्धाहोराजमुद्राङ्कितं तथा ॥ अनेन विधिना लेख्यं राजशासनकं लिखेत्।

इति । तथाच स एव जयपत्रं निरूपितुमाह— व्यवहारान् स्वयं दृष्टा श्रुत्वा वा प्रााद्विवाकतः । जयपत्रं ततो दद्यात् परिज्ञानाय पाार्थवः ॥

कस्मै दद्यादित्यपेक्षिते स एवाह—
जङ्गमं स्थावरं येन प्रमाणेनात्मसात्कृतम् ।
भागाभिशापसंदिग्धो यस्सम्यग्विजयी भवेत् ॥
तस्मै राज्ञा प्रदातव्यं जयपत्रं सुनिश्चितम् ॥

वृहस्पतिरपि-

पुर्वीत्तरिक्रयायुक्तं निर्णयान्तं यदा तृपः । पदचाज्जयिने लेख्यं जयपत्रं तदुच्यते ॥

पूर्वोत्तरिक्रियायुक्तामिति वृत्तान्तोषलक्षणार्थम् । यत आह स एव-यहृतं व्यवहारे तु पूर्वपक्षोत्तरादिकम् । क्रियावधारणोपेतं जयपत्रेऽखिलं लिखेत् ॥

व्यासोऽपि-

पूर्वोत्तरिक्रयापादं प्रमाणं तत्परीक्षणम् । Smriti Cha.—Vol. III. निगदं स्मृतिवाक्यं च यथासभ्यं विनिश्चितम् ॥
एतत्सर्वं समासेन जयपत्रे विलेखयेत् ॥
इति । क्रियापादं क्रियाभिमर्शनपादं प्रत्याकलितपादमिति या
वत् । निगदं साक्षिवचनम् । यथासभ्यं सभ्यानितक्रमण । समा
सेन संक्षेपेण । कास्रायनोपि-—

अधिमसिधिवाक्यानि प्रतिज्ञा साक्षिवाक्तथा।
निर्णयश्च यथा तस्च यथा चावधृतं स्वयम् ॥
एतद्यथाक्षरं लेख्ये यथापूर्वं निवेशयेत् ॥
इति । यथापूर्विमित्येतत्तेनैव प्रपिश्चतम्—
अभियोक्रभियुक्तानां वचनं प्राङ्मिवेशयेत् ।
सभ्यानां प्राङ्किवाकस्च कुलानां वा ततःपरम् ॥
निश्चयं स्मृतिशास्त्रस्च मतं तत्रैव लेखयेत् ॥
इति । मतं नृपादीनामिति शेषः । मतलेखनं तु स्वहस्तेन, पर्हित्ततो मतलेखनस्य 'यथा चावधृतं स्वयं ' इत्यनेनैव पूर्वमेव वि-

सिद्धेनार्थेन संयोज्यो वादी सत्कारपूर्वकम् ।
हेल्यं स्वहस्तसंयुक्तं तस्मै दद्यात्तु पार्थिवः ॥
सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः ।
यथा हेल्यविधौ तद्वत् स्वहस्तं तत्र दापयेत् ॥
इति । राजा तान् सभ्यान् जानपदहेल्यवज्जयपत्रे स्वहस्तं
दापयेदिसर्थः । दृद्धवसिष्ठोऽपि—

हितत्वात् । अत एवोक्तं तेनैव---

प्राद्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया ।
सिद्धेऽर्थे वादिनो दद्याज्जियने जयपत्रकम् ॥
एवमुक्तं जयपत्रं पश्चात्काराख्यमियाह कासायनः —
अनेन विधिना छेख्यं पश्चात्कारं विदुर्वधाः ।
इति । अयं च पश्चात्कारो निर्णयविशेष एव न सर्वत्रेसाह
स एव—

निरस्ता तु क्रिया यत्र प्रमाणेनैव वादिना ।
पश्चात्कारो भवेत्तत्र न सर्वासु विधीयते ॥
क्रिया साध्यम् । प्रमाणेनैवेति वदंश्चतुष्पाद्यवहार एव पश्चात्कारो
न द्विपाद्व्यवहार इति कथयति । स्पष्टीकृतं चेतत् वृहस्पतिना—
साधयेत् साध्यमर्थं तु चतुष्पादन्वितं जये ।
राजमुद्रान्वितं चैव जयपत्रकिमण्यते ॥

इति । द्विपाद्व्यवहारे तु भाषोत्तरान्वितं जयपत्रमस्तचेव, पश्चा-त्कारस्यैव तत्रासदनुवादकत्वेन मितिपेधात् । अन्यदापि जयपत्रं तेनैवोक्तं—

अन्यवाद्यादिहीनेभ्य इतरेषां प्रदीयते । वृत्तानुवादसंसिद्धं तच्च स्थाज्जयपत्रकम् ॥ इतरेषां हीनवादिनामिस्रर्थः । आज्ञापज्ञापनापत्रे द्वे वसिष्ठेन दर्शिते—

> सामन्तेष्वथ भृत्येषु राष्ट्रपालादिकेषु वा । कार्यमादिक्यते येन तदाज्ञापत्रमुच्यते ।।

ऋत्विवपुरोहिताचार्यमान्येष्वभ्यार्हितेषु तु । कार्य निवेद्यते येन पत्रं प्रज्ञापनाय तत् ॥

इति । वृहस्पतिरन्यद्पि राजकीयं प्रसादछेख्याख्यं पत्रमाह— देशादिकं यस्य राजा छिखितेन प्रयच्छति । सेवाशौर्यादना तुष्टः प्रसादछिखितं हि तत् ॥

इति । अतो राजकीयं पश्चिविधं चतुर्विधिमसनास्थयोक्तिमिति मन्तव्यम् । जानपदं पुनर्व्यासेन निरूपितम्—

लिखेज्जानपदं लेख्यं मसिद्धस्थानलेखकः । राजवंशक्रमयुतं वर्षमासार्धवासरैः ॥

युतामित्यनुषज्यते । वासरः दिनम् । अन्यदापि हेखियतन्यामि-त्याह स एव—

पितृपूर्वे नामजाती धनिकणिकयोर्तिखेत्।
द्रव्यभेदप्रमाणं च वृद्धिं चोभयसम्मताम् ॥
अभयसम्मतिः द्रव्यदिर्पि विशेषणम् । अत एव याज्ञवल्कयः—
यः कश्चित्रशे निष्णातः स्वरुच्या त प्रस्परम् ।

यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम् । हेरुपं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन् धनिकपूर्वकम् ॥

साक्षिमत् निष्णातार्थज्ञातृभूतमध्यस्थजननामान्वितम् । तथा कालधानिकऋणिकसाक्ष्यादिलेखनीयस्य यावता विशेषणेन वि-शेषनिष्ठत्वसिद्धिः ताविद्वशेषणान्वितं कार्यमित्याह स एव—

> समामासतद्धीहर्नामजातिस्वगोत्रकैः । सब्रह्मचारिकात्भीयपितृनामादिचिद्धितम् ॥

सब्रह्मचारिकं वहुचः कटः इत्यादिशाखात्रयुक्तं गुणनाम, अत्मी-यपितृनाम, धनिकऋणिकसाक्षिणां पितृनाम। आदिशब्देन देशाचारावाप्तवारादि गृह्यते। अत एव व्यासः—

देशस्थित्या कियाधानप्रतिग्राहिवचिह्नितम् । देशस्थित्या किया देशाचारानुसारेण करणम् । आधानं आधिः । नारदोऽपि—

> छेरुयं तु साक्षिमत्कार्यमिविछप्तक्रमाक्षरम् । देशाचारस्थितियुतं समग्रं सर्ववस्तुषु ॥

विसष्टोपि-

कालं निवेदय राजानं स्थानं निवसितं तथा। दायकं ग्राहकं चैव पितृनाम्ना च संयुतम् ॥ जातिं स्वगोत्रं शाखां च द्रव्यमाधिं ससंख्यकम्। द्राद्धं ग्राहकहस्तं च विदितार्थे च साक्षिणौ ॥

इति । ग्राइकहस्तिनिवेशनप्रकारमाह स एव याज्ञवल्क्यः — समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् । मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपिर लेखितम् ॥

उपरीति वदन् पूर्विलिखिताक्षरसंस्थानाद्यस्तात्स्वहस्ताक्षरसंस्थानामिति दर्शयति । ऋणीति साक्षिणामिप पदर्शनार्थम् । तथाच स एव—

साक्षिणं च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् । अत्राहममुकस्साक्षी लिखेयुरिति ते समाः ॥ यत्र लेख्ये विलिखितास्साक्षिणस्तेऽप्यमुकपुत्रोऽमुकोऽत्रार्थे सा क्षीति प्रसेकं लिखेयुः । ते च द्वित्वादिसमसंख्यया विशिष्टा भवेयुः । न त्रित्वादिविषमसंख्ययेत्यर्थः । केनिचदकारप्रश्लेष्ट पकल्पनया साक्षिसंख्यानियमो वैपरीसेन वर्णितः । स यस्मिन् देशे तथैवाचारः तत्रैव ग्राह्यः नान्यत्र स्वरसार्थत्वात् । साक्षिण इति बहुवचनं गुरुतरकार्यलेख्यविषयम् ।

उत्तमर्णाधमर्णौ च साक्षिणौ लेखकस्तथा । समवायेन चैकेषां लेख्यं कुर्वीत नान्यथा ॥ इति हारीतेन लेख्यमात्रे साक्षिणावित्युक्तत्वात् । एवंचान्यकृत-लेख्यस्योत्तमर्णाधमर्णसाक्षिद्रयलेखकरूपपञ्चपुरुषारूढत्वात् पञ्चा-

रूढं पत्रिमिति लोके व्यवहारः । साक्षिसङ्ख्याधिकत्वे त्वयं व्यव-हारो गौण इति मन्तव्यम् । लेख्यमात्रं त्रकृत्य व्यासेनाप्यु-

क्तम्—

ऋणिहस्तं नामयुतं साक्षिभ्यां पितृपूर्वकम् । इति । अतो द्विप्रभृतिभिस्समैभीवितव्यमिति नियमो देशाचारा-विरोधेनानुसंधेयः । यदा तु लिप्यनभिज्ञः साक्षी ऋणी वा तदा नारद आह—

अलिपिज्ञो ऋणी यस्त्याल्लेखयेत्स्वमतं तु सः । साक्षी वा साक्षिणाऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः ॥ विजातीयलिपिज्ञोपि स्वयमेव लिखेत् लिपिज्ञत्वात् , सर्वे जानपदान् वर्णान् लेख्ये तु विनिवेद्ययेत् ॥ इति कात्यायनस्परणाच । साक्षिस्वहस्तलेखनानन्तरं याज्ञवल्क्यः— उभयाभ्यार्थिते चैतन्मया ह्यमुकसूनुना । लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ व्यासोऽपि—

मयोभयाभ्यर्थितेनामुकेनामुकस्तुन्ता ।
स्वहस्तयुक्तं स्वं नाम छेखकस्तुन्ततो छिखेत् ॥
एवं जानपदे छेख्ये व्यासेनाभिहितो विधिः ।
इति । अन्ततो छेख्यस्येति शेषः । एवमुक्तछेख्यमष्टाविधामित्याह
स एव—

चिरकं च स्वहस्तं च तथोपगतसंज्ञितम् ।
आधिपत्रं चतुर्थं च पश्चमं क्रयपत्रकं ॥
पष्ठं तु स्थितिपत्रारूपं सप्तमं संधिपत्रकम् ।
विशुद्धिपत्रकं चैवमष्टथा लौकिकं स्मृतम् ॥
इति । नात्र सङ्ख्या विवक्षिता । विभागपत्रादेरिप लौकिकत्वात् ।
तत्र चिरकस्य लक्षणमाह सङ्गहकारः—

चिरकं नाम लिखितं पुराणैः पौरलेखकैः । अधिप्रत्यधिनिर्दिष्टैः यथासंभवसंस्तुतैः ॥ स्वकीयैः पितृनामाद्यैर्श्यिप्रत्यधिसाक्षिणाम् । प्रतिनामि भराक्रान्तमिथसाक्षिस्वहस्तवत् ॥ स्पष्टावगमसंयुक्तं यथास्मृत्युक्तलक्षणम् ।

इति । संस्तुतैः पशस्तैरित्यर्थः । कात्यायनस्तु स्वहस्तमाह-

ग्राहकेण स्वहस्तेन छिखितं साक्षिवर्जितम् ।
स्वहस्तछेरुयं विज्ञेयं प्रमाणं तत्स्मृतं बुधैः ॥
एवमेव दायकेन छिखितं ग्राहकेणाभ्युपगतं छेरुयं उपगतारूयं
विज्ञेयम् । आधिपत्रमाह नारदः—
आधि कृत्वा तु यो द्रव्यं प्रयुक्के स्वधनं धनी ।

यत्तत्र क्रियते लेख्यमाधिपत्रं तदुच्यते ॥ अन्वाधिलेख्ये विशेपमाह प्रजापतिः— धनी धनेन तेनैव परमाधि नयेद्यदि । कृत्वा तदाधिलिखितं पूर्वं चास्य समर्पयेत् ॥

क्रयपत्रं पितामहेनोक्तम्— क्रीते क्रयप्रकाशार्थे द्रव्ये यत्क्रियते कचित् । विकेत्राऽनुमतं क्रेत्रा ब्रेयं तत्क्रयपत्रकम् ॥

स्थितिपत्रादीनि पुनः कःसायनेनोक्तानि— चातुर्विद्यपुरश्रेणीगणपौरादिकस्थितिः । तत्सिद्धचर्थं तु यह्छेख्यं तद्भवेत् स्थितिपत्रकम् ॥ अभिशापे समुत्तीर्णे प्रायिश्चत्ते कृते जनैः। विशुद्धिपत्रकं ह्येयं तेभ्यस्साक्षिसमन्वितम् ॥

इति । वृहस्पतिरापि छेख्यविभागमाह —

भागदानऋयाधानसंविद्दासऋणादिभिः ।

सप्तधा छौकिकं छेख्यं त्रिविधं राजशासनम् ॥
अत्रापि न सङ्ख्या विवक्षिता, अधिकानामपि छेख्यानामेतेभ्यो

दिशितत्वात् ! अत एवात्रादिग्रहणं कृतं, अन्यथा गणितेरेव सप्ताविधत्वसिद्धेरादिग्रहणम्पार्थं स्वात् । तेनैतत् ज्ञायते लेख्य-सङ्ख्या नावधारणार्थेति । अतो विविधसङ्ख्यावद्वचनानामविरोधः। भागलेख्यादिकं स्वयमेव व्याच्छे—

> भ्रातरस्संविभक्ता ये स्वरुच्या तु परस्परम् । विभागपत्रं कुर्वन्ति भागलेख्यं तदुच्यते ॥ भूमिं द्त्वा तु यत्पत्रं कुर्याचन्द्रार्ककालिकम्। अनाच्छेद्यमनाहार्यं दानलेख्यं तु तद्विदुः ॥ गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा तुल्यमूल्याक्षरान्वितम्। पत्रं कारयते यतु ऋयलेख्यं तदुच्यते ॥ जङ्गमं स्थावरं वन्धं दत्वा लेख्यं करोति यः। गोष्यभोग्यिकयायुक्तमाधिलेख्यं तदुच्यते ॥ ग्रामो देशश्च यत्कुर्यान्मतं छेख्यं परस्परम्। राजाविरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्ति तत् ॥ वस्नान्नहीनः कान्तारे लिखितं कुरुते तु यत्। कमीणि ते करिष्यामि दासपत्रं तदुच्यते ॥ धनं वृद्धचा गृहीत्वा तु स्वयं कुर्योच कार्यत्। उद्धारपत्रं तत्रोक्तं ऋणलेख्यं मनीषिभिः॥

इति । अन्यदिष लौकिकं लेख्यमाह कात्यायनः— भीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते । Smriti Cha.—Vol. III इति । याज्ञवल्क्योपि-

् दत्वर्ण पाटयेत्पत्रं शुद्धौ वाऽन्यत्तु कार्येत् ॥

इति । लेख्यप्रयोजनमाह मरीचिः —

स्थावरे विक्रयाधाने विभागे दान एव च। लिखितेनाभुयात्सिद्धिमविसंवादमेव च॥

आधानमाधिः । आद्यश्चरुद्धः ऋणादिनिष्णातार्थसङ्ग्हार्थः । अविसंवादः कालान्तरेऽपि निष्णातार्थस्यानन्यथाभावः । एवंच स्थावरादावप्यविसंवादेन सिद्धिमालोच्य राजवंशवपीदिलेखः नीयानामावापोद्वापौ कार्यौ, तेषां दृष्टार्थत्वात् । अतो न दानादिलेख्ये धनिकऋणिकादि लेखनीयम् । नापि ऋणादिलेख्ये प्रतिग्रहादिकम् । एवमन्यत्रापि लेख्ये लेखनीयम्हनीयं, दृष्ट्रपयोजनत्वाल्लेख्यस्य। अत एवाकृतप्रयोजनस्य लेख्यस्य कार्याक्षमत्वे नाशे वा लेख्यान्तरम्रत्पाद्यम् । अत एवाह याज्ञवल्वयः—

देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ।
भिन्ने दग्धे तथा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयत् ॥
देशान्तरस्थे सर्वथाऽऽनेतुमशक्यस्थानस्थे । दुर्लेख्ये दुरववोधाक्षरे । भिन्ने द्विधा जाते । छिन्ने शीर्णे । कात्यायनोपि—

मलैयेत् भेदितं दग्धं छिद्रितं वीतमेव वा । तदन्यत्कारयेक्षेष्यं स्वेदेनोक्षितितं तथा ॥

सतस्तत्कालकरणमसतो दृष्टदृर्शनम् ॥

इति, तत्तदैव धनदानोद्यतऋणिकविषयम् । तत्र लेख्यान्तर-करणे प्रयोजनाभावात् । कालकरणं, आनयनार्थं तस्य पत्रस्या-नयनयोग्यकालकल्पनम् । दृष्टदर्शनं पत्रलभ्यपत्रार्थज्ञातृज्ञापनं ध-नप्रतिपादने कार्यमिस्रर्थः । एतच्च पत्रपाटनासम्भवेऽपि साक्षिणां साक्षित्वनिवृत्तये कार्यम् । प्रतिपादनप्रकाशार्थः च प्रतिद्त्तपत्रं प्राह्मम् । कालान्तरे तु धने देये लेख्यान्तरं कार्यमेव । अत एवोक्तं तेनापि—

> छिन्नभिन्नहृतोन्मृष्टदग्धदुर्छितितेषु च । कर्तव्यमन्यक्ठेल्यं स्यादेष लेल्यविधिस्समृतः॥ इति ॥

> > इति स्मृतिचिन्द्रकायां लेख्यनिरूपणम् .

अथ लेख्यपरीक्षाः

तत्र कात्यायनः —

किया साध्यम् । चिह्नं मुद्रा सा राजकीयछेल्य एव । तथाच नारदः— राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिहितं तथा ।
राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमत् ॥
तथा जानपदं प्रकृत्याह स एव—
लेख्यं तु द्विविधं प्रोक्तं स्वहस्तान्यकृतं तथा ।

असाक्षिमत्साक्षिमच सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ॥ देशस्थितेः देशाचारानुसारेण । तयोस्सिद्धिः प्रामाण्यमित्यर्थः । स्वहस्तकृते तु विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

विनाऽपि साक्षिभिर्छेल्यं स्वहस्तछिखितं तु यत् । तत्ममाणं स्मृतं सर्वे वलोपाधिकृतादते ॥ विनाऽपीत्यपिशव्दात् ससाक्षिकमपि स्वहस्तलिखितमस्तीति गम्यते। अन्यकृतं तु साक्षिमदेव प्रमाणम् । तथाच पितामहः —

वादिभ्यामभ्यनुकातं छेलकेन ससाक्षिकम् । छिलितं सर्वकार्येषु तत्प्रमाणं स्मृतं वुधैः॥ कात्यायनोपि—

देशाचारयुतं वर्षमा श्वपक्षादिवादिमत् ।
ऋणिसाक्षिलेखकानां हस्ताङ्कं लेख्यपुच्यते ॥
वृद्धिग्रहणमाधेरुपलक्षणार्थम् । अत एव नारदः—
देशाचारिवरुद्धं यत् व्यक्ताधिविधिलक्षणम् ।
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमिवलुप्तक्रपाक्षरम् ॥
व्यक्तं अपिविकेष्यप्रकृष्णाः स्राम्यकः लेख

व्यक्तं आधिविधेराधिकरणह्य स्रक्षणं यस्मिन् लेख्ये तत्तथो-क्तम्। यक्लेख्यमविलुतकमाक्षरादिस्रक्षणान्वितं तत्प्रवाणं का- लान्तरेऽपि वस्तुतत्त्वाववोधकमित्यर्थः । अनेवंविधमप्रमाणमि-त्यर्थादेव सिद्धम् । तथाऽपि स्पष्टार्थमाह कात्यायनः —

स्थानभ्रष्टास्तुपङ्किस्थाः संदिग्धा लक्षणच्युताः।
यदा तु संस्थिता वर्णाः कूटलेल्यं तदा भवेत्॥
देशाचारविरुद्धं यत्संदिग्धं क्रमवर्जितम्।
कृतं च स्वामिना यच साध्यहीनं च दुप्यति॥

इति । हारीतोपि-

यच काकपदाकीणं तल्लेख्यं कूटतामियात् । विन्दुमात्रविहीनं यत्संहितं चिरितं च यत् ॥ बृहस्पतिरापि—

> यदुज्जुलं चिरकृतं मिलनं स्वल्पकालिकम् । भग्नोन्मृष्टाक्षरयुतं लेख्यं कृटत्यपानुयात् ॥ मुमूर्षुशिशुभीतार्थस्त्रीमत्तव्यसनातुरैः । निशोपधिवलात्कारकृतं लेख्यं न सिध्यति ॥

इति । नारदोपि—

मनाभियुक्तस्त्रीवालवलात्कारकृतं तु यत् ।

तदप्रमाणं लिखितं भयोपाधिकृतं तथा ॥

कात्यायनोपि-

मत्तेनोपाधिभीतेन तथान्मत्तेन पीडितैः । स्त्रीभिनील्यास्वतन्त्रैश्च कृतं लेख्यं न तिष्यति ॥ मुमूर्प्वीदिकृतं अयथार्थशङ्कया न प्रमाणतां प्रतिपद्यत इति वाईस्पत्यादिवचनानां तात्पर्यार्थः । एवं साक्ष्यादिवैगुण्येऽपि न प्रमाणम् । तथाच व्यासः —

दूषितः कर्मदुष्टो वा साक्षी यत्र निवेशितः । कूटलेख्यं तु तत्प्राहुः लेखको वाऽपि तद्विधः ॥ कात्यायनोपि—

साक्षिदोपाद्भवेहुष्टं पत्रं वै लेखकस्य वा । धनिकस्थापि वा दोपात्तथा धारणकस्य वा ॥ अत्र ये गृहदोषास्ते विवादिना वक्तव्याः । ये पुनः प्रकटास्ते सभ्यैरिसाह स एव—

प्रमाणस्य हि ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना ।
गृहास्तु प्रकटास्सभ्यैः काले शास्त्रपदर्शनात् ॥
प्रमाणस्य प्रमाणतया कीर्तितस्य । काले प्रमाणपरीक्षाकाल
इत्यर्थः । कालातिक्रमणोक्तास्तु दोषा न प्रामाण्यं विद्यन्तीसाह
वृहस्पतिः —

लेख्यदोषास्त ये केचित् साक्षिणां चैव ये स्मृताः। वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुक्तान्न दृपयेत्॥ पश्चादुक्तात् प्रमाणपरीक्षापर्यवसानात्पश्चान्न दृषयेदिसर्थः। गूढ-दोषोद्भावनप्रकारमाह कासायनः—

> साक्षिलेखककर्तारः कूटतां यान्ति ते तथा। तथा दोषाः प्रयोक्तन्या दुष्टैर्लेख्यं प्रदुष्यति॥

अथवा-आरूढलेखकेन न लिखितमारूढसाक्षिभिर्वा न दृष्टं दुष्ट-मित्युद्भावनीयमित्याह स एव—

न लेखकेन लिखितं न दृष्टं साक्षिभिस्तथा । एवं प्रत्यर्थिनोक्ते तु कूटलेख्यं प्रकीर्तितम् ॥ उक्तेनार्थेनेति शेषः । तथाच स एव—

> नातथ्येन प्रमाणं तु दोषेणैव तु दूषयेत् । मिथ्याभियोगे दण्ड्यस्त्यात् साध्यार्थाचापि हीयते ॥

एवं दूपणवाद्युदितदोषसम्भवे तान् दोपानितरस्य सभापतिः निरूपयेत्। तथाच स एव—

> एवं दुष्टं नृपस्थाने यस्मिन् तद्धि विचार्यते । विमृश्य ब्राह्मणैस्सार्धं पत्रदोपानिरूपयेत् ॥

तत्र यदीतरेण ते दोपा न परिहृताः तदा दुष्टं छेल्यं, परिहृता-श्रेददुष्टामित्याह स एव—

येन ते कूटतां यान्ति साक्षिलेखककारकाः । तेन दुष्टं भवेछेख्यं शुद्धैक्शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥

उपगताख्यलेख्यस्य त्वधमर्णसंमत्या शुद्धिनों चेन्नेत्याह स एव-

धनिकेन स्वहस्तेन लिखितं साक्षिवार्जितम् । भवेत्कूटं न चेत्कर्ता कृतं हीति विभावयेत् ॥

कर्ता धनिकोऽधमर्णानुमया कृतमिति यदि न विभावयेत् न सा-धयेत्तदा न जानामीत्यधमर्णेन दृपितं छेल्यं कूटं भवेदित्यर्थः। यदा पुनः स्वहस्तनिह्नवेन लिखितं दृषयित तदा तदारूढसाक्ष्या-दितो दुष्टमदुष्टं वेति निश्चेतव्यम् । तथाच स एव—

दत्तं लेख्ये स्वहस्तं तु ऋणिको यदि निहुते। पत्रस्थैस्साक्षिभिर्वाच्यो लेखकस्य मतेन वा॥

अकृतत्वेन दूषितेऽप्ययमेव निश्चय इत्याह स एव---कृताकृतविवादेषु साक्षिभिः पत्रानिर्णयः ।

इति । साक्षिग्रहणमुपलक्षणम् ।

दूषिते पत्रके दादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत्।

इति तेनैवोक्तत्वात् । यत्पुनर्नारदेनोक्तम्— यस्मिस्तु संशयो छेख्ये भूताभूतकृतः कचित्।

तत्स्वहस्तक्रियाचिद्वयुक्तिप्राप्तिभिरुद्धरेत् ॥

इति, यदापि याज्ञवल्क्येन-

संदिग्धलेख्यशुद्धिस्चात् स्वहस्तलिखितादिभिः।

युक्तिपाप्तिक्रियाचिह्नसंवन्धागमहेतुभिः॥

इति तदसाक्षिकस्वहस्तकृतलेख्यविषयम् । तत्र साक्ष्यादिस्पष्ट निर्णायकाभावात् । अत एव हारीतः —-

> ऋणिस्वहस्तसंदेहे जीवतो वा मृतस्य वा । तत्स्वहस्तरुतैरन्थैः पत्रैस्तल्लेख्यनिर्णयः ॥

स्वहस्तकृतैरिति पूर्वोक्तिव्रयाद्युपलक्षणार्थम् । यत्र पुनरस्ति स साक्षिकस्वहस्तकृतलेख्यादौ साक्ष्यादि स्पष्टनिर्णायकं न तत्र लेख्यान्तरसादक्यात् स्पष्टनिर्णायकेन निर्णयः।तदाह कासायनः- प्रसक्षमनुमानेन न कदाचित्प्रवाध्यते ।
तस्माल्लेष्यस्य दृष्टस्य वचोभिस्साक्षिणां भवेत् ॥
निर्णयस्ख्यधनार्थं हि पत्रं दृपयति स्वयम् ।
इति । साक्षिणां वचोभिर्न पुनरधमणवचनतः, तस्याशयदोपसम्भवादित्यर्थः । अनेनैवाभिष्रायेण नारदेनाष्युक्तम्—

लिखितं लिखितेनैव साक्षिमत्साक्षिभिईरेत् । इति । अविद्यमानसाक्ष्यादिकं लिखितं तत्सजातीयलिखिता-दिना शोधयेदित्यर्थः । यत्पुनस्तेनोक्तम्—

साक्षिभ्यो लिखितं ज्ञेयं लिखितात्र तु साक्षिणः।
इति, तल्लेख्यानारूढसाक्षिण्यम् । अतम्साक्ष्यादिमतो लेख्या
रूढसाक्ष्यादिभिर्निर्णयः । असाक्षिमतस्खहस्तक्रतलेख्यान्तरसाहत्र्यादिभिरित्यनुसन्धेयम् । कथं तर्हि मृतसाक्ष्यादिमतः निर्णय
इत्यपेक्षिते कासायनः—

अथ पश्चत्वमापन्नो लेखकस्सह साक्षिभिः।
तत्स्वहस्तादिभिस्तेपां विशुध्येतु न संशयः॥
तेपां मृतसाक्ष्यादीनाम्। तत्स्वहस्तादिभिः पत्रान्तरप्रसिद्धहस्तगात्रवणसाद्द्यप्रभृतिभिरसर्थः। विष्णुरिष-—

यत्रणीं धनिको वाऽपि साझी वा छेखकोपि वा । म्रियते तत्र तछ्छेख्यं तत्स्वहस्तैः प्रसाधयेत् ॥

इति । राजकीयं प्रत्याह कासायनः ——
पश्चात्कारनिवद्धं यत्तद्यनेन विचारयेत् ।
Smritt Cha. — Vol. III

यदि स्वाद्यक्तियुक्तं तु प्रमाणं लिखितं तदा ॥ अन्यथा दूरतः कार्यं पुनरेव विनिर्णयेत् । अतथ्यं तथ्यभावेन स्थापितं ज्ञानविश्वमात् ॥ निवर्त्यं तत्प्रमाणं स्यात् यवेनापि कृतं नृपैः ।

पश्चात्कः रिनवद्धं पश्चात्काराख्यजयपत्रनिवेशितमिसर्थः । तथा -सम्रुद्रे तु यथा छेख्ये मृतास्सर्वेऽपि तत्स्थिताः । स्टिखितं तत्प्रमाणं तु मृतेष्विपि हि तेपु वै ॥

प्रमाणं मुद्रादिभिरिति शेषः । अत एव शासनं मुद्रामुदाहृसाह प्रजापतिः—

कार्यो यत्नेन महता निर्णयो राजशासने । राज्ञा स्वहस्ततन्मुद्रान्नेखकाक्षरदर्शनात् ॥ कासायनोपि—

मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम् ।
राज्ञस्त्वहस्तसंशुद्धं शुद्धिमायाति शासनम् ॥
क्रियाशुद्धं अपशब्दानन्वयादिरहितम् । जानपदलेख्यमपि कचिद्धक्तचा शुद्धिमायातीसाह स एव—

शक्तस्य सिन्नधावर्थो येन हेरूयेन भुज्यते । वर्षाणि विंशाति यावत्तत्पत्रं दोपवर्जितम् ॥ समृत्यन्तरेऽप्युक्तम्—

> अथ विश्वतिवर्षाण आधिर्भुक्तिस्सुनिश्चितम् । येन छेख्येन तत्सिद्धं छेख्यं दोषविवर्णितम् ॥ सीमावियादे निर्णाते सीमापत्रं विधीयते ।

तस्य दोषाः प्रयोक्तव्या यावद्वर्षाणि विंशतिम् ॥
आधानसहितं पत्रमृणलेख्यिनवेशितम् ।
मृतसाक्षि प्रमाणं तु स्वल्पभोगेऽपि तद्विदुः ॥
आधानमाधिः । मृतसाक्षि प्रमीतसाक्ष्यादिकम् । तथाच नारदः —
मृतास्स्युस्साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः ।
तद्प्यनर्थं लिखितं न चेदाधिस्थिराश्रयः ॥
आश्रयो भुक्तिः । अथवा लिखितवलायातकिंचिद्वद्धचादिधनलब्ध्याऽधमर्णस्य पुरस्तात्तक्षेण्यण्यापनेन वा शुद्धिरित्याह स

यदि लब्धं भवेतिंकचित् प्रज्ञाप्तर्या कृता भवेत् । प्रमाणमेव लिखितं मृता यद्यपि साक्षिणः ॥ प्रजाप्तिमेव प्रपञ्चयति—

दिश्तितं प्रतिकालं यच्छ्रावितं स्मारितं तथा ।
लेख्यं सिध्यति सर्वत्र मृतेप्विप हिं साक्षिपु ॥
प्रजापितरिप—किचिद्धक्तचा शृद्धिमाह—
हेत्वन्तरकृते पत्रे आरूढो यत्र निहुते ।
लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते तस्य भोगं विनिर्दिशेत् ॥
निर्णायकत्वेनेति शेपः । भोगग्रहणमुपलक्षणार्थम् । अत एव
नारदः—

लेख्यं यच्चान्यनामाङ्कं हेत्वन्तरकृतं भवेत् । विमत्यये परीक्ष्यं तत्संवन्धागमहेतुभिः ॥ हेत्वन्तरकृतं दायादेविश्चनार्थं कृतम् । विमत्ययो विमित्तपतिः । संवन्धः माचीनो धनदानमितदानादिलक्षणः । आगमः एता वतो धनस्य सम्भवोऽस्थास्ति नेत्येवमात्मकः । हेतुरनुमानम् । एवं धनिनामाङ्कं लेल्यमपि वञ्चनादिहेतुकृतं परीक्ष्यम् । तथाच वृहस्पतिः—

स्त्रीवालार्तान् लिप्यविज्ञान्वश्चयान्ति स्ववान्धवाः। लेख्यं कृत्वा स्वनामाङ्कं ज्ञेयं युक्तचागमस्तु तत्॥ ज्ञात्वा कार्यं देशकालकुशलाः कूटकारकाः। कुर्वन्ति सदृशं लेख्यं तद्यत्नेन विचार्यत्॥

लिप्यविज्ञो लिप्यनभिज्ञः । कात्यायनोपि—
दर्पणस्थं यथा विम्वमसत्सदिव द्व्यते ।
तथा लेष्यस्य विम्वानि कुर्वन्ति कुशला जनाः॥
व्यासोपि—

तस्मात्र लेख्यतत्केचित् लिखन्ति कुश्चला नराः ।
तस्मात्र लेख्यसामध्यीत् सिद्धिरैकान्तिकी मता ॥
तेन सम्यक्परीक्षणीयमिस्राभिन्नायः । अत एव नारदः —
पुरुपास्सन्ति ते लोभात्कार्यं यं ब्रूयुरन्यथा ।
सन्ति चान्ये दुरात्मानः कूटलेख्यकतो जनाः ॥
परीक्ष्यमेतदुभयं स्वयं राज्ञा विशेषतः ।
लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः ॥
इति । लेख्याचारेण प्रागुदितशुद्धिहेतुजातेनेत्यर्थः । यत्पुनस्त-

देतुजानेन न शुद्धिमायाति लेख्यं तद्यमाणमेव, तेन तत्परित्यज्य दिन्येन निर्णयं कुर्यात् ।

अलेख्यसाक्षिके देवीं व्यवहारे विनिर्दिशेत्। इति कासायनस्मरणात्। तथा हारीतेनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तं-न मयैतत्कृतं लेख्यं कूटमन्येन कारितम्। अधरीकृस तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः॥

इति । यत्र छेल्ये सर्वथा कूटशङ्काः नपगमः तत्र साध्यार्थनिर्णयो दिन्यंनेति तात्पर्यार्थः । उदाहरणतयोक्तस्वहस्तछेल्यस्यानादर-णीयत्वात् । तेन स्वहस्तगोत्रचिद्वादिसम्भवेऽपि प्रतिवादिनो दढ-विप्रतिपत्त्या कूटशङ्काऽनपगमो यत्र भवेत् तत्रापि दिन्येन निर्णयः । तथाच प्रजापतिः —

यन्नामगोत्रैस्ततुल्यक्ष्पं लेख्यं कचिद्भवेत् । अगृहीते धने तत्र कार्यो दिव्येन निर्णयः ॥ तत्तुल्यक्ष्पं अविप्रतिपत्रलेख्यान्तरतुल्यक्ष्पम् । अगृहीते धने प्रति वादिनि दृढ इत्यर्थः । यत्पुनर्नारदेनोक्तम्—

दुष्टे पत्रे स्फुटं दोषं नोक्तवान् ऋणिको यदि ।
ततो विंशतिवर्षाणि क्रान्तं पत्रं स्थिरं भवेत् ॥
इति, तस्त्रायमर्थः—दौष्टचिचरकालभोगाभ्यां संदिग्धमामाण्यकं
लेख्यं दिव्येन साधितार्थं स्थिरं भवेदिति चिरकालत्वमात्रेण स्थैर्यासंभवात् । यः पुनः लेख्यदोपान् न परिहरति
तस्य दण्डमाह् कायायनः—

कूटोको साक्षिणां वाक्यं छेखकस्य च पत्रकम्।
नयेच्छुार्द्धं न यः कूटं स दाप्यो दण्डमुत्तमम्॥
साक्षिणां वाक्यं छेखकस्य पत्रं च प्रति कूटोक्तावुक्ताविधया यो
वादी कूटं शुद्धिं न नयेत्, स उत्तमसाहसदण्ड्य इत्यर्थः। स्थावरादौ तु दण्डान्तरमाह स एव—

स्थावरे विक्रयाधाने छेल्यं कूटं करोति यः। स सम्यग्भावितः कार्यो जिह्वापाण्यङ्किवर्जितः॥ तेनान्यछेल्यधारकेणैतछेल्यागमनकारणमुद्भावनीयमित्याह व्यासः—

यचान्यस्य कृतं लेख्यमन्यहस्ते प्रदृश्यते । अवश्यं तेन वक्तव्यं पत्रं पत्रागमं ततः ॥ ततो लेख्यस्वामिनस्सकाशादित्यर्थः । तथा लेख्यानां मिथो विरोधे बाध्यवाधकनिर्णयार्थमाह स एव—

स्वहस्तकाज्जानपदं तस्मातु नृपशासनम् ।
प्रमाणतरिमष्टं हि व्यवहारार्थमागतम् ॥
जानपदपदेनात्र गोवलीवर्दन्यायात् स्वहस्तकृतादन्यदुच्यते ।
नृपशब्देनापि लक्षणया शासनेतरद्राजकीयं, तेनान्यकृतं स्व
हस्तकृतात् वलवत्, तस्मादिप राजकीयं, ततोऽपि शासनिम
सर्थः । वलवत्त्वं चोत्तरोत्तरस्य कूटत्वासम्भवतारतम्यतोऽववोध्यम् । अत एवोपगताख्यलेख्यादसाक्षिकं स्वहस्तकृतं,
तस्माच ससाक्षिकं स्वहस्तकृतं वलविद्यवगन्तव्यम्। अत एव

छेख्यमात्रं साक्षिवचनतो वलविद्याह संवर्तः — हेख्यस्योपिर यत्साक्ष्यं कूटं तद्भिधीयते । अधर्मस्य हि तद्वारमतो राजा विवर्जयेत्॥

हेरुयविरुद्धं यत् साक्ष्यं ततो दुर्वहिमित्यर्थः । वृहस्पतिरापि— वाचकेर्यत्र सामर्थ्यमसराणां विहन्यते । कियाणां सर्वनाशस्त्राद्नवस्था च जायते ॥

क्रियाणां लेख्यिकयाणाम् । कासायनोपि—
न दिन्यैस्साक्षिभिर्वाऽपि हीयते लिखितं कचित् ।
लेख्यधर्मस्सदा श्रेष्ठां ह्यतो नान्येन हीयते ॥

लेख्येन तु हीयत इसाह स एव— तद्युक्तमतिलेख्येन तद्विशिष्टेन वा सदा । लेख्यिकया निरस्येत निरस्यान्येन न कचित्॥

अन्येन साक्ष्यादिनेत्यर्थः । अत एव वृहस्पतिः — न जातु हीयते छेख्यं साक्षिभिक्शपथेन वा । अदर्शनाश्राविताभ्यां हानिं प्राप्तोत्युपेक्षया ॥

वहुकालव्यापिन्येति चेपः। तथाच व्यासः—
अदृष्टाश्राचितं लेख्यं प्रमीतधिनकणिकम्।
अवद्धलप्तकं चैव बहुकालं न सिध्यति॥
इति । अबद्धलप्तकं आधिप्रतिभूरहितम्। बहुकालं बहुकालीनं,
न सिध्यति स्वत इत्यभिष्ठायः। कात्यायनोपि—

हेरूयं त्रिंशत्समातीतमदृष्टाश्रावितं च यत् ।

न तिसिद्धिमवाभोति तिष्ठत्स्विपि हि साक्षिषु ॥
अदर्शनेऽपि विशेषमाह स एव—
प्रयुक्ते शान्तलाभे तु लिखितं यो न दर्शयेत्।
न याचते च ऋणिकं तत्संदिग्धत्वमाप्नुयात् ॥
ऋणिकमासन्नमाट्यं चेति शेषः । तथाच वृहस्पतिः—
आठ्यस्य निकटस्थस्य यच्छक्तेन न याचितम् ।
शुद्धं न शङ्कया तत्र लेख्यं दुर्वलतामियात् ॥
एवमविशेषणादर्शनादितो लेख्यहानिशाप्तावपवादमाह स एव—
उन्मक्तजडवालानां राजभीतप्रवासिनाम् ।
अप्रगल्भभयातीनां न लेख्यं हानिमाप्नुयात् ॥
संवर्तस्तु लेख्याभासा अपि वहुकालीना विचारविषयतां भजन्त इत्याह—

वलोपाधिकृतं चैत्र मत्तोन्मत्तकृतं तथा ।

एते चान्ये च वहवः चिरस्था वादहेतवः ॥

तेनैवमादिषूक्तशुद्धिविधिरनुसंधेयो निर्णेतृभिरित्यभिप्रायः ।
अत एव कात्यायनः —

द्रव्यं गृहीत्वा यक्लेख्यं परस्मे सम्प्रदीयते ।
छन्नमन्येन चारूढं संयतं चान्यवेश्मनि ॥
दत्ते वृत्तेऽथवा द्रव्ये कचिल्लिखितपूर्वके ।
एष एव विधिर्तेयो लेख्यशुद्धिविनिर्णये ॥ इति ॥
इति स्वित्विन्दिकायां लेख्यपरीक्षा

अथ भुक्तिनिरूपणम्

तत्र नारदः---

श्रुत्वोत्तरं कियापादे छेख्यं साधनमुद्दिशेत्। सामन्तलक्षणोपेता भुक्तिर्वा चिरकालिकी ॥

साधनशब्देनात्र गोवलीवर्दन्यायात् साक्षिण उच्यन्ते, तेना-यमर्थः—लिखितं साक्षिणो वा गृहक्षेत्रादिविवादेपु उदि-शेत् भुक्तिर्वा कीर्तनीयेति । अत एवानेन साक्षिपु विशेषो वर्णितः ।

> गृहक्षेत्रादिवादेषु सामन्तभयो विनिर्णयः । नगरग्रामगणिनो ये च वृद्धतमा नराः ॥ यद्दिनत नियोगस्थाः तहाहां व्यावहारिकम् ॥

एतदुक्तं भवति—क्षेत्रादिस्थावरविवादे मानुषममाणानामन्थ-तमं ममाणमुद्दिशेत् न जातु दिव्यमिति । तत्रापि लिखित-भुक्ती श्रेष्ठे इसाह् कात्यायनः—

> लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणत्रयमिष्यते । प्रमाणपु स्मृता भुक्तेस्सल्लेख्यसमता तृणाम् ॥

नृणां प्रमाणेष्विसन्वयः । मानुषप्रमाणेष्वित्यर्थः । सङ्केष्यमनवः द्यस्रेष्यम् । क्वचिद्भुक्तेरेव श्रेष्ठचमितराभ्यामाह स एव—

रथ्यानिर्गमनद्वारजलवाद्दादिसंशये । भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यात् प्रमाणेष्ट्वित निश्चयः ॥ Smriti Cha.—Vol. III. 20 रथ्यादिव्यातेरिक्तविषयेऽपि भुक्तचनुग्रहमन्तरेण नेतरयोर्गुरु-त्वामित्याह नारदः—

विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु । विशेषतस्थावराणां यन्न भुक्तं तदस्थिरम् ॥ याज्ञवल्क्योऽपि—

आगमेऽपि वलं नैत्र भुक्तिस्स्तोकाऽपि यत्र नो । इति । आगमे लिखितसातिपरिज्ञेयक्रणदावित्यर्थः । अनेना-गमलेख्यादेदोपशङ्काऽपनोदकतया स्तोकभुक्तिरनुग्राहकमात्रमेव न प्रमाणमित्यर्थादुक्तम् । उक्तं च कासायनेन—

शक्तस्य सिन्नधावर्थी यस्य लेख्येन भुज्यते। दश वर्षाण्यतिक्रान्नं तल्लेख्यं दोषत्रर्जितम्॥ वृहस्पतिनाऽपि—

यस्यैकशासने ग्रामक्षेत्रारामाश्च लेखिताः ।

एकदेशोपभोगेऽपि सर्वे भुक्ता भवन्ति ते ॥

इति । यत्पुनर्लेख्यमनिवारितप्रतिकूलदानस्य स्वामिनः तद्दिफलमेवेसाह स एव—

पश्यन्नन्यस्य ददतः क्षितिं यो न विचालयेत् ।
स्वामी सताऽपि लेख्येन न पुनस्तां समाप्नुयात् ॥
सताऽपि समीचीनेनापीयर्थः। क्षितिमिति देयद्रव्योपलक्षणार्थम्।
यदाह स एव—

रिक्थिभर्वा परैर्द्रव्यं समक्षं यस्य दीयते ।

अन्यस्य भुञ्जतः पश्चात् न स तल्लब्धुमईति ॥
समक्षदानेनामितापिध्यमानेन स्वाम्यनुमितपूर्वकत्वसूचकेन स्वामिनो यदागमलेख्यं तस्य स्वत्वसाधकत्वे प्रतिहितभवतीसर्थः ।
अनेनार्थलेख्येन स्वार्थसिद्धिमिच्छता स्वामिना समक्षदानं
प्रतिषेद्धव्यं यत्रत इत्युक्तं भवति । एवं समक्षभोगापितपेधेऽपि दृष्टव्यम् । तथा च व्यासः—

वर्षाणि विंशतिं यस्य भक्ता पृथ्वीपरैरिह।
सित राज्ञि समर्थस्य तस्य सेह न सिध्यति ॥
सताऽपि लेख्येनेति शेषः। अत एव संवर्तः—
भुज्यमाने गृहक्षेत्रे विद्यमाने तु राजनि ।

भुक्तिर्यस्य भवेतस्य न लेख्यं तत्र कारणम् ॥
तस्य भोकुर्भुज्यमानं भवेत् यतस्तत्रोपेक्षकस्यागमलेख्यं न कारणं न साधनं, भोगोपेक्षया स्वत्वापितस्चिकया लेख्यसाधकत्वस्य प्रतिहत्तत्वादित्यर्थः । एतच्च लेख्यवैयर्थ्यकथनार्थमुक्तं न पुनभोकुस्स्वामित्वप्रतिपादनार्थं तस्य भोगमात्रेण स्वामित्वासि-

देः । अत एव कात्यायनः—
नोपभोगवलं कार्यमाहत्री तत्सुतेन वा ।
पशुस्त्रीपुरुपादीनामिति धर्मी व्यवास्थितः ॥

अत एव व्यासेन धेनुदृष्टान्तो दत्तः— डपेक्षिता यथा धेनुर्विना पालेन नदयति । पद्यतोऽन्यैस्तथा भूमिर्भुक्ता तेन तु हीयते ॥ याज्ञवल्क्येनापि एवमुपेक्षकस्याहानिरेवाभिहिता, न पुनर्भी-कुस्स्वत्वापत्तिः—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेः हानिर्विशतिवार्षिकी ।

परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥

इति । हानिश्रात्र लिखितवलेनात्मियत्वप्रसाधनमात्रस्याभिप्रेता, न पुनर्भूम्यादौ तत्फले वा स्वत्वस्य, नोपेक्षामात्रेण
स्वत्वमपैतीत्युक्तत्वात् । तेनात्र न धर्माख्यनिर्णयवशादुपेक्ष
कस्य हानिः, तद्वशेनात्मीयत्वप्रसाधनसम्भवात् । नैवं व्यत्व

हाराख्यनिर्णयवशेन, लेख्यवैगुण्यस्योक्तत्वात्, किंतु द्वितीयव्यवहाराख्यनिर्णयात् भोक्तुरनिन्द्यत्वं स्वामिनो निरुत्तरत्वेनास्वामिनो जितत्वात् । तदाह मनुः—

अजडश्चेदगौगण्डो विषये चास्य भुज्यते । भग्नं तद्वचवहारेण भोक्ता तद्धनमहीति ॥

इति । व्यवहारशब्दार्थमाह वृहस्पतिः— प्रमाणनिश्चितो यस्तु व्यवहारस्स उच्यते । वाक्छलानुत्तरत्वेन द्वितीयः परिकीर्तितः ॥

इति । प्रमाणनिश्चितो मानुषप्रमाणनिश्चितः । वाक्छलव्यवहारे रेण निरुत्तरत्वेत वा भग्नस्यापि वास्तवो व्यवहारो भव त्येव । प्रपाणराहिसेन भोक्तुर्जयस्य शिथिलत्वात्—

छलं निरस्य भूतेन व्यवहाराम्नयेवृषः । इति याज्ञवल्क्येनाष्युक्तत्वात् । एवं प्रतिकूल<mark>दानभोगयोरप्र</mark>- तिषेधे साक्षिणामिप वैयर्थ्य दण्डापूपन्यायसिद्धं वोद्धव्यम् । अत एव नारदः—

उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णींभूतत्य तिष्ठतः । कालेऽतिपन्ने पूर्वोक्ते व्यवहारो न सिध्यति ॥

मानुपप्रमाणात्तस्य स्वार्थो न सिध्यतीत्यर्थः । सङ्ग्रहकारोपि— अभुक्तिरागमो मोघो भुज्यणाने परैरापि ।

इति । आगमशब्देनात्र तत्प्रमाणभूतलिखितसाक्षिणावुक्तौ । अत

एव प्रायेण साक्षिसाध्येष्विप हानिमाह मरीचि:— धेनुवाह्यालङ्करणं याचितं पीतिकर्मणा । चतुःपञ्चाब्दिकं देयमन्यथा हानिमाप्तयात्॥

अत्रापवादमाह मनुः— सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन । धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥

दम्यो वत्सतरः । याचितके त्वपवादमाह व्यासः— याच्ज्ञाधर्मेण यद्भक्तं श्रोत्रियै राजपूरुपैः । सुहृद्भिवीन्धवैर्वाऽपि न तद्भोगेन हीयते ॥

यत् अलङ्करणादीत्यर्थः । अहानौ कारणमप्याह स एव— धर्मोक्षयक्श्रोत्रिये स्यात् भयं स्याद्राजपूरुपे । स्नेहस्सुहृद्धान्धेत्रेषु भुक्तमेतैन हीयते ॥

भुक्तं पश्चवर्षादृर्ध्वमपीति शेषः । अनेन सकारणोपेक्षायां न कदाचिद्धानिरित्युक्तम् । तेन दशवार्षिकविंशतिवार्षिकहान्यो-

रिप अपवादस्सकारणोपेक्षायां द्रष्ट्वयः। अत एव मनुः— आधिस्सीमा वालधनं निक्षेपोपिनिधिस्त्रियः। राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं नोपभोगेन नश्यति॥

सीम्नि तत्रत्यचिक्षैससुसाधनत्वसुपेक्षाकारणम् । स्त्रीष्वप्रागहभ्यम् । राजश्रोत्रिययोर्दष्टादृष्टकार्यवैयग्रचम् । अविशिष्टेष्ट्रेष्ट्रे क्षाकारणं व्यक्तम् । एवं सम्बन्धक्ष्पोपेक्षाकारणसम्भवेऽप्य-द्यानिः । तथाच व्यासः—

सनाभिभिर्वान्थवैर्वा भुक्तं यत्स्वजनैस्तथा । भोगे तत्र न सिद्धिस्त्याद्भोगमन्यत्र करूपयेत् ॥ तत्र सनाभ्यादिभोगे सम्वन्धित्वेनोपेक्षासम्भवात् । भूम्या दिहानेर्न सिद्धिस्त्यादित्यर्थः । पितामहोपि—

भुक्तिवेलवतीं तत्र भोक्ता यत्र परो भवेत् ।
स्वगोत्रे भोगिनां भुक्तिन शक्ता शाश्वती तृणाम् ॥
वलवती स्वमतिकूललेल्यादेर्वेयथ्यकत्री । स्वगोत्रे स्वमातापितृवन्धुप्वित्यर्थः । तथाच कात्यायनः—

न भोगं करुपयेत् स्त्रीषु देवराजधनेषु च । बालश्रोत्रियवित्ते च मातृतः पितृतः क्रमात् ॥ देवानामानिराकर्तस्वभावत्वात् तद्धनस्यान्यभोगे न हानिः । श्रोत्रियग्रहणमन्यासक्तोपलक्षणार्थम् । अत एव नारदः—

ब्रह्मचारी चरेत्कश्चित् व्रतं पर्दित्रशदाब्दिकम् । अर्थार्थी वाऽन्यविषये दीर्घकालं वसेव्ररः ॥ समावृतो त्रती कुर्यातस्वधनान्वेपणं ततः।
पञ्चाशदाब्दिको भोगस्तद्धनस्यापहारकः॥
मितवेदं द्वादशाब्दः कालो विद्यार्थिनां स्मृतः।
शिल्पविद्यार्थिनां चैव ग्रहणान्तः मकीर्तितः॥
मुहद्भिर्वन्धुभिश्वेषां यत्सम्भक्तमपश्यताम्।
नृपापराधिनां चैव न तत्कालेन हीयते॥

इति । एतचापवादजातं भोक्तुरागमाभावे वेदितव्यम् । अतः एव वृहस्पतिः—

न स्त्रीणामुपभोगस्स्याहिना लेख्यं कथंचन ।
राजश्रोत्रियवित्ते च जडवालंधने न च ॥
स्त्रीणां धन इति शेषः । विना लेख्यं विनाऽऽगमप्रमाणम् ।
नारदोऽपि—

स्विधनं च नरेन्द्राणां न कथंचन जीर्यते ।
अनागमं भुज्यमानं वर्षाणां तु शतेरापे ॥
नरेन्द्राणां च धनिमत्यर्थः । तथाच स एव—
पत्यक्षपिरभोगाच स्वामिनो द्विशतास्समाः ।
आध्यादीन्यपि जीर्यन्ते स्वीनरेन्द्रधनाहते ॥
आध्यादीन्यपीति मौहिवादः, तेपामपि भोगोपेक्षाकारणसमभवेन स्वीधननरेन्द्रधनतुल्यत्वत् । अनागमिति वदन्नागम
सम्भवे जीर्यत एवेति दर्शयति । दर्शितं च हारीतेन—
भटचाटवलाद्धक्तं हृतं गुप्तमथापि वा ।

स्त्रेहप्रणयदत्तं च प्रदत्तं भाटकेन वा ॥ तथा वसनरक्षार्थं याचितं प्रणयेन वा । एवं वहुविधे भोगे आगमो निर्णयस्स्मृतः ॥

इति । वसनरक्षार्थं गृहरक्षणार्थम् । एवंचोपेक्षाकारणरिहता प्रतिकूला भुक्तिरागमाभावेऽप्युक्तकाला लिखितसाक्षिणोर्वेयः ध्यमापादयतीसनुसन्धेयम् । अते। लिखितसाक्षिणावनुकूलभु-क्तियुक्तौ प्रतिकूलसमक्षदानादिरिहतौ गृहक्षेत्रादिविषये प्र-माणतया कर्तिनीयौ । भुक्तिः पुनः कीद्दग्विधा कर्तिनीः येत्यपेक्षित जक्तं—

सामन्तलक्षणोपेता भुक्तिर्वा चिरकालिकी। इति । साध्यभूतक्षेत्रादेस्समन्ततो यत् क्षेत्रादि तत्स्वामिनः स्सामन्ताः, तैर्विज्ञाता सामन्तोपेता। लक्षणोपेता तु पिता महेन दर्शिता—

सागमा दीर्घकाला च विच्छित्रोपरवोज्झिता।
प्रत्यर्थिसिन्निधाना च भुक्तिः पश्चविधा स्मृता॥
सागमा आगममूलिका। तथाच हारीतः—
न मूलेन विना शाखा अन्तरिक्षे परोहति।
आगमस्तु भवेन्मूलं भुक्तिक्शाखा मकीर्तिता॥

कः पुनरागम इत्येषेक्षिते नारदः—

लब्धं दानक्रयप्राप्तं शौर्यं वैवाहिकं तथा।

वान्धवादप्रजाज्जातं पड्डिधस्तु धनागम ॥

लब्धं जन्मना लब्धं पैतृकादि, अथवा दर्शनेन लब्धं निध्यादि । बृहस्पतिरापि—

विद्यया क्रयवन्धेन शौर्याप्तं भाषयाऽन्वितम् ।
स्विण्डस्याप्रजस्यांशः स्थावरं सप्तधाऽऽप्यते ।
वन्ध आधिः । सोपि कचित् स्वत्वनिमित्तं भवतीति वक्ष्यामः ।
दीर्घकाला त्रिंशद्वर्पादनिष्वका । तथाच स एव—
अध्यासनात्समारभ्य भुक्तिर्यस्याविद्यातिनी ।
विंशद्वर्पा त्वविच्छिन्ना तस्य तां न विचालयेत् ।।
अध्यासनं परिग्रहः । एवंच दीर्घकाला भुक्तिरागमानुगृहीतममाणं, अदीर्घकाला चेत्तदनुगृहीतागम इत्यनुसन्धेयम् । अत एव
पितामहः—

नागमेन विना भुक्तिः नागमो भुक्तिर्वाजतः ।
तयोरन्योन्यसम्बन्धात् प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥
पूर्वोक्तव्यवस्थयेति शेषः । अनेनैवाभिप्रायेण वृहस्पतिरिष—
भुक्तचा केवलया नैव भुक्तिस्सिद्धिमवाप्रयात् ।
आगमेनापि शुद्धेन द्राभ्यां मिद्धचित नान्यथा ॥
केवलया अगमरिहतयेत्यर्थः । एवं विशेषणान्तररिहतयाऽप्यसिद्धिः । अत एव व्यासः—

सागमो दीर्घकालश्च विच्छेद्रोपरवोज्झितः। मत्यर्थिमन्निघानश्च पश्चाङ्गो भोग इप्यते॥ Smriti Cha.—Vol. III पञ्चाङ्ग इति वदन् एकाङ्गवैकल्येऽप्यप्रामाण्यमेव भोगस्थेति दर्श-यति । दर्शितं च नारदेन---

सम्भोगं केवछं यस्तु कीर्तयेत्रागमं कचित् ।
भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयस्स तु तस्करः ॥
तेन सभ्यसन्निधावागमाद्यङ्गमपि कीर्तनीयमित्यभिप्रायः । अत
एव कात्यायनः —

प्रणष्टागमले लेयन भोगारूढेन वादिना ।
कालः प्रमाणं दानं च कीर्तनीयानि संसदि ॥
दानग्रहणमागमोपल क्षणार्थम् । चशब्दः सान्तत्यादिविशेषणसङ्ग्रहार्थः । एवं चायर्मः—भोगप्रमाणवादिना भोगारूयं प्रमाणं
तिद्विशेषणानि आगमदीर्घकालादीनि च कीर्तनीयानि, कीर्तितानि
च तिद्विशिषती साधनीयानि, कीर्तनमात्रे निश्चयाभावात् । तत्र
दीर्घकालादिविशिष्टभुक्तिनिश्चयः साक्ष्यधीन इसाह सङ्ग्रहकारः—

भुक्तिप्रसाधने मुख्याः प्रथमं तत्कृपीवलाः । ग्रामण्यः क्षेत्रसामन्तास्तत्सन्धापयतः क्रमात् ॥ तत्सन्धापयतः दीर्घकालादिविशेषणं भुक्तिं चोद्भावयत इत्यर्थः । आगममुद्भावयतस्तु लिखितादित्रयं प्रमाणमिस्राहं स एव—

लिलितं साक्षिणो भुक्तिः क्रिया क्षेत्रग्रहादिषु । आगमः क्रयदानादौ प्रत्याख्याते चिरन्तने ॥ उत्सन्नसत्तात्रवादे क्रयाद्यागमे प्रसाख्याते प्रतिवादिना निराकृते सित क्षेत्राद्ध्वागममुद्भावयतो लिखितसाक्षिभुक्तयः प्रमाणिनित्यर्थः। ननु कथमागमे भुक्तिः प्रमाणं, अनागममूलाया अपि भुक्तेरपहारादौ दर्शनात्। मैवं —दीर्घकालादिविशिष्टाया भुके-मूलान्तरादर्शने ससागममूलतैवावसीयते मन्वादिस्मृतोरिव वेदम्लता। ननु तथाऽपि स्मरणयोग्ये काले भुक्तावुपक्रान्तायां योग्यानुपलब्ध्या मूलभूतागमाभावनिश्चयात्कथं तत्र भुक्तिवलेनेवागमसिद्धः। सत्यं—अत एव तस्मिन् काले उपक्रान्तायां लिखितसाक्षिभ्यामेवागमोऽध्यवसीयते । स्मरणयोग्यकाले तु उपक्रान्तायां स्ववलेनापीति युक्तं आगमे प्रमाणत्रयाभिधानम् । एतदेव कासायनेनाष्युक्तं—ं

स्मार्ते काले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते । अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुपागता ॥

इति । अनुगमाभावात् योग्यानुपलब्ध्यात्मकवाधकाभावादिसर्थः । एतदुक्तं भवति स्मरणयोग्यपश्चाधिकशतवर्षपर्यन्तातीतकालमध्ये प्रारब्धा भुक्तिः स्वेतरप्रमाणावगताऽऽगममूलैव स्वत्वे प्रमाणिमध्यते । स्वतस्स्वमूलावगते योग्यानुपलब्ध्या
वाध्यमानत्वात् । स्मरणायोग्ये पुनः पञ्चाधिकशतवर्षपर्यन्तातीतकालात्माचीनकाले प्रारब्धा स्वदाद्ध्यावगतागममूलिका विनाऽपि मानान्तरावगतागममूलतां स्वत्वे प्रमाणम्, इति ।
कमात् त्रिपुरुपागतेत्यस्य तु व्याख्या सङ्गृहकारेण कृता—

स्वतन्त्रैः पेतिपितृकैः भुक्ता या पूर्वजैस्त्रिभिः । भुक्तिस्त्रिपुरुषा ज्ञेया यावज्जीवमनुष्टिता ॥

इयं च प्रायेणास्मार्तकालोपक्रमभुक्तेरुदाहरणार्थम्रादिता, तेन भुक्तेरागमप्रमाणत्वे क्रमान्त्रिपुरुपागतत्वमनुपयोगि, अस्मार्तकालो-पक्रमत्वमेवोपयुज्यते । अत एव वृहस्पातिना पुरुषत्रयातिक्रमा-भावेऽपि कालत एव भुक्तेस्त्रिपुरुपत्वम्रक्तम्—

पिता पितामहो यस्य जीवेच प्रिपतामहः ।
तिंशतसमा या तु भुक्ता भूमिरव्याहता परैः ॥
भुक्तिस्सा पौरुपी ज्ञेया द्विगुणा च द्विपौरुषी ।
त्रिपौरुपी च त्रिगुणा परतस्स्याचिरन्तनी ॥
तिंशतसमा पञ्चोत्तरेति शेपः ।

वर्षाणि पञ्चित्रंशत्तु पौरुषो भोग उच्यते । इति स्मृत्यन्तर उक्तत्वात् । एवं चागमकर्त्राऽऽगमोद्भावनं छेख्य-साक्षिभ्यामेव कार्यं, भोगस्यास्मार्तकाळीनोपक्रमवतोऽसम्भवात् । अत एव वृहस्पतिः-

यत्राहर्ता ऽभियुक्तस्स्याल्लेख्यं साक्षी तदा गुरुः । तदभावे तु पुत्राणां भुक्तिरेका गरीयसी ॥ तदभावे आहर्त्तपुरुपाभावे । अनेनैवाभिष्रायेण कात्यायनोऽपि— आहर्ता भुक्तियुक्तोपि लेख्यदोपान्विशोधयेत् । तत्स्रतो भुक्तिदोषांस्तु लेख्यदोषांस्तु नामुयात् ॥ सुतग्रहणं पौत्रस्याप्युपलक्षणार्थं अत एव याज्ञवल्क्यः-अगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत्। न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी॥

कृतागमेनागमोद्धरणं लेख्यसाक्षिभ्यामेव कार्यम् । भुक्तेः स्मार्त-कालीनोपक्रमत्वेनागमोद्धावनेऽपि क्षमत्वात्।एतत्कृतागमस्यागमो भोगात्पृथगेव साध्यः । पुत्रपौत्रयोश्चाचिरन्तनभोगे तु भोगसा-धननान्तरीयकतयाऽपीत्यवगन्तव्यम् । तेन चिरन्तनोपभोगे त-त्साधनेनैवालिमत्याह वृहस्पतिः —

> आहर्ता साधयेद्धिकमागमं चापि संसदि । तत्सुतो भुक्तिमैदैकां पौत्रादिस्त न किंचन ॥

तत्पुत्रो भुक्तिमेवैकां चिरन्तनीमाद्यपुरुपेण भोक्तुमुपकान्तकाला-दारभ्य विवादात् प्राचीनकालपर्यन्तमुपरवराहित्येन प्रतिपक्ष-ताईपुरुपसमक्षमनुवर्तमानं साधयेदित्यर्थः । पुत्रग्रहणं पौत्रस्यापि प्रदर्शनार्थम् । पौत्रादिरिसतद्गुणो वहुवीहिः । तेन पौत्रस्यापि पुत्रवदेव द्रष्ट्रन्यम् । अत एव समृत्यन्तरम्—

> आगमस्तु कतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् । न तत्सुतस्तत्सुतो वा भोगहानिस्तयोरपि ॥

चिरन्तनभोगेऽपीति शेषः । अनेन चिरन्तनभोगे प्रपौत्रादीना-मागमानुद्धरणेऽपि न भोग्यहानिरिसर्थीदुक्तं भवति । उक्तं च विष्णुना— त्रिभिरेव तु या भुक्ता पुरुषैर्भूर्यथाविधि ।
लेख्याभावेऽपि तां तत्र चतुर्थस्समवाप्र्यात् ॥
लेख्याभावेऽपि क्रियाद्यागमप्रकाशकप्रमाणाभावेऽपीत्यर्थः । अत
एव वृहस्पतिः --

राजान्तरैस्तिभिर्भुक्तं प्रमाणेन विनाडिप यत् । व्रह्मदेयं न हर्तव्यं राज्ञा तस्य कदाचन ॥ प्रमाणेन आगमप्रकाशकप्रमाणेनेत्यर्थः । नारदोपि— यद्दिनाऽऽगममस्रन्तं भुक्तं पूर्वेस्तिभिर्भवेत् । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्विपुरुषागतम् ॥ अत्यन्तं विनाऽऽगमं भुक्तचाप्युपलभ्यमानमागमं विनेसर्थः । शङ्कोपि—

पैत्रं विनाडप्यागमेन पूर्वपूरुपाभ्यां मुक्तं लभेत ।
पूर्ववचनसमानार्थमेतत् । लभेत चतुर्थादिरिति शेपः । तथाच
वृहस्पतिः—

भुक्तिस्त्रेपुरुपी यत्र चतुर्थे संप्रवार्तिता ।
तद्भोगस्त्रियरतां याति न पृच्छेदागमं कचित् ॥
उक्ताविधभोगे तन्मूलभूतागमं प्रति किमपि प्रमाणं कचिदापि न
पृच्छोदिसर्थः । सान्तसादिविशिष्टां भुक्तिं प्रति प्रमाणं पृच्छेदेव ।
तथाच नारदः—

आहर्तेवाभियुक्तस्त्यादर्थानामुद्धरेत्पदम् ।

भुक्तिरेव विशुद्धा स्वात् प्राप्तानां पितृतः क्रमात् ॥ पदं स्थानं आगममिति यावत् । विशुद्धा सान्तत्यादिमत्तया प्रमाणतिस्सद्धा । प्राप्तानां चतुर्थादीनाम् । वृहस्पतिरापि—

अविच्छेदेन यद्धक्तं पुरुपैस्त्रिभिरेव तु । तत्र नैवागमः कार्यो भुक्तिस्तत्र गरीयसी ॥

तत्र चतुर्थादि वागमिनश्रयो नावश्यं कार्यः । यतस्तत्र भुक्तिः पूर्वपुरुषत्रयागता सान्तसादिविशेषणवत्तया साधिता गरीयसी, विनाऽप्यागमिनश्रयं स्वतन्त्रैव प्रमाणिमसर्थः । तथा चाह स एव-

स्थावरेषु विवादेषु भुक्तिस्त्रिपुरुषी च या ।
स्वतन्त्रैव हि सा ज्ञेया प्रमाणं साध्यनिर्णये ॥
स्वतन्त्रा स्वमूलभूतागमनिश्चयानपेक्षेत्यर्थः । कासायनोषि—

भुक्तिस्तु द्विविधा शोक्ता सागमाऽनागमा तथा । त्रिपूरुपी या स्वतन्त्राऽनागमाऽल्पा तु सागमा ॥

सागमा निश्चितागमेत्यर्थः । ननु स्वतन्त्राङ्पि निश्चितागमैव, स्वदार्क्येनैवागमनिश्चयात् । मैवम्, चिरन्तन्याः भुक्तेः अस्मार्त-कालीनभोगस्य सान्तत्यादिविशेषणवत्त्रयोद्धावनाभावेन कृत्स्ना-या दार्ढ्याभावात् । न च चतुर्थादीनां तद्भोगस्याप्युद्धावनं कार्यमिति वाच्यं, 'पौत्रादिस्तु न किंाचन' इसस्मार्तकालीन-भोगस्योद्धावननिषेधात् ।

भुक्तिरेव विशुद्धा स्यात् पाप्तानां पितृतः क्रमात्।

इति स्मार्तकालीनभागस्यैवोद्धावनविधानाच । अतस्स्वतन्त्रा
भुक्तिरिनिश्चितागमा । कथं तर्हि तस्य स्वत्वे प्रामाण्यं, उच्यते-आगमनिश्चयाभावेऽपि एवं विधायाः प्रामाण्यिमिष्यते।सागमपक्षस्यात्यन्तासम्भावितत्वात्, वाधकस्य चानागमनिश्चयस्याभावात् ।
तथा साहसादौ मिथ्यावादित्विनश्चयाभावमात्रात् साक्षिणां
प्रामाण्यिमष्टम् ।

सर्वस्साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे । इति । तथेहापि सर्वे स्रस्थम् । अत एव कात्यायनः-

चिरन्तनमिवज्ञातं भोगं छोभान्न चालयेत्। इति । अविज्ञातं अनागमतयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति— यथा छलानुसारेण निर्णीतोऽपि विज्ञतिवार्षिकभोगस्य पुन-भूतानुसारेण चालनिष्टं न तथा चिरन्तनस्येति । हारीतोपि—

अन्यायेनापि यद्धक्तं पित्रा भ्रात्राऽथवाऽपि च । न तच्छक्यं पराहर्तुं तृतीयं सम्रुपागतम् ॥

तृतीयमतिक्रम्य सम्रुपागतिमत्यर्थः । अत एव नारदः-

अन्यायेनापि यद्धक्तं पित्रा पूर्वतरैस्त्रिभिः । न तच्छक्यं पराहर्तुं क्रमात्विषुरुषागतम्॥ पित्रा सह पूर्वतरैस्त्रिभिर्यद्धक्तं तदन्यायेनेति वक्तमशक्यं, किं पुनर-

पहर्तुमियर्थः । यत्पुनस्तेनोक्तम्-

आगमेन विशुद्धेन भोगो याति भमाणताम् ।

अविशुद्धागमो भोगः शामाण्यं नैव गच्छति ॥ इति, तदत्रिपुरुषागतभोगवियं, भोगमात्रविषयत्वे पूर्वोक्तानेक-वचनविरोधात्,

अ।गमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् ।

इति याज्ञवल्क्यवचनिवरोधाच । यतु वृहस्पतिनोक्तम्—

यस्य त्रिपुरुषा भुक्तिस्सम्यग्छेख्यसमिन्वता ।

एवंविधा ब्रह्मदेया हर्तु तस्य न शक्यते ॥

इति, तत्स्मार्वकालानिकान्तित्रपुरुपभोगविषयम् । यत्पुनर्नारदेनोक्तम्—

अनागमं तु यो भुक्के वहून्यब्दशतान्यपि । चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥

इति, तद्येनकेनचित् प्रमाणेन निश्चितानागमभोगविषयं, अना-गमामिति सिद्धविन्निर्देशात् । निश्चितानागमाश्च भोगास्तेनैव दर्शिताः—

> अन्वाहितं भृतन्यस्तं वलावपृब्धयाचिते । अमत्यक्षं च यद्भक्तं षडेतान्यागमं विना ॥

अन्वाहितं अन्यस्मये दातुमर्पितम् । याचितं परकीयद्रः व्यमलङ्काराद्यर्थमानीतम् । वलावपृब्धं राजप्रसादादिवलेन भुक्तम् । एवंविधस्य चिरन्तनस्यापि भोगस्य न प्रामाण्यम् । तथाच स एव—

ग्रामक्षेत्रं गृहं चैव भुक्तं यस्य क्रमागतम् ॥
राजप्रसादादन्यत्र न तद्भुक्तं परं नयेत् ॥
राजप्रसादात् अन्यायभूतादिति शेषः । तथाच संवर्तः—
या राज्ञा क्रोधलोभेन छलन्यायेन वा कृता ।
प्रदत्ता इन्यस्य तुष्टेन न सा सिद्धिमवाधुयात् ॥

या खल्वन्यस्य भूः क्रोधादिना राज्ञा परभोग्यतया कृता,
तुष्ट्या वाऽन्यस्मै दत्ता, सा चिरन्तनभोगेनापि न भोकुः
स्सिध्यतीत्यर्थः । एवं शासनिवर्धिन भुक्तस्याप्यसिद्धिर्दृष्टन्या। तथा च वृहस्पतिः—

यस्य त्रिपुरुषा भुक्तिः पारम्पर्यक्रमागता । न सा चालियतुं शक्या पूर्वकाच्छासनादते ॥

यत्तु पितामहेनोक्तं---

स्वहस्तकाज्जानपदं तस्मात्तु नृपशासनम् । ततस्त्रैपुरुषो भोगः प्रमाणतरमिष्यते ॥

इति, तत्मवादपरम्परायातमसिद्धानिश्चितागमभोगविपयं, अन्य-था पूर्वोक्तवचनविरोधात् । एवं पूर्वपुरुषमसाधितागमायाः अपि भुक्तेः प्रमाणतरत्वमवगन्तव्यम् । तथाच वृहस्पतिः— भुक्तिवेल्लवती शास्त्रे ह्यविच्छित्रा चिरन्तनी । विच्छिन्नाऽपि हि सा ज्ञेया या तु पूर्वे प्रसाधिता ॥ या चिरन्तनी पूर्वपुरुपप्रसाधितागमा सा विच्छिन्नाऽपि वलवती ज्ञेयेत्यर्थः। व्यासोपि—

> आहर्त्रा याडिभयुक्तेन प्रमाणेन प्रसाधिता । भूमिस्सा तत्सुतात् पाप्ता न हर्तव्या कदाचन ॥

तत्सुतात् न हर्तव्येसन्त्रयः । यदा त्विभयुक्तेनाहर्त्रा न साधिता तदा तत्सुतेन चिरन्तनभोगारूढेनाप्याहर्तृवदेव साध्या। तथाच वृहस्पतिः-—

> उद्धरेक्केष्यमाहर्ता तत्पुत्रो भुक्तिमेव तु । अभियुक्तः प्रमीतश्चेत्तत्पुत्रस्तत्समुद्धरेत् ॥

पूर्वाभियोगेन भुक्तेरदार्ढ्यात्तदुद्धरणमात्रेणात्रागमसिद्धचभावा-दागममप्युद्धरेदित्यर्थः । लेख्यग्रहणं साक्षिणोपि पद्र्शनार्थम् । तस्याप्याहर्तृकर्तृकागमोद्धरणे प्रमाणत्वात् । नारदोपि—

> तथाऽऽक्र्ढिविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः। पुत्रेण सोऽर्थस्संसाध्यो न तद्धोगान्निर्वतेते॥

यथाऽऽहर्जा लिखितसाक्षिभ्यामेवागमस्संसाध्यो भवति तथे-त्यर्थः । पुत्रग्रहणं धनग्राहिण उपलक्षणार्थम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

योऽभियुक्तः परेतस्स्यात्तस्य रिक्थं तमुद्धरेत् ।
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विनाकृता ॥
तमागमं चतुर्थादिरप्यवद्यं समुद्धरेत् । यस्मात्स्वतन्त्रा

भुक्तिस्तत्राप्रमाणम्, अविगीतत्वाभावादित्यर्थः । एवंच य यदुक्तं नारदेन—

आदौ तु कारणं दानं मध्ये भक्तिस्तु सागमा।
कारणं भक्तिरेवेकं सन्तता या चिरन्तनी ॥
इति, तदाहर्तृनिणीताभियोगाभावविषयमिति मन्तव्यम् । अक्षः
रार्थस्तु सङ्गहकारेण दर्शितः—

कृतागमस्योक्तकाले भुक्ते स्यात्प्रभुरागमः ।

तस्यैवात्मतृतीयस्य प्रभुभुक्तिस्स्कुटागमा ॥

भुक्तिर्या सा चतुर्थस्य प्रमाणं सन्ततागता ।

परित्यक्तागमा भुक्तिः केवलव प्रभुमिता ॥

इति । कृतागमस्य आगमकर्तुः । उक्तकाले विश्वद्वपत्मिक इसर्थः ।

प्रभुः प्रधानम् । स्कुटागमा प्रमाणपरिच्छिन्नागमा, या सन्त
तागता भुक्तिः चिरन्तनी चतुर्थादेः, प्रमाणं सा परित्य
कागमनिश्रया । प्रभुः स्वत्वनिर्णयक्षमोति द्वितीयश्लोकार्थः ।

यत्पुनव्यासिनोक्तं—

वर्षाणि विंशति भुक्ता स्वामिनाऽव्याहता सती ।
भुक्तिस्सा पौरुषी भूमेर्द्विगुणा तु द्विपौरुषी ॥
त्रिपौरुषी च त्रिगुणा न ततोऽन्वेष्य आगमः ।
इति, तच्चतुर्थादिभुक्तेष्पष्टचाब्दिक्याः प्रारम्भकालीनपुरुषाणां
जीवतामभावे चिरन्तनकालीनभोगतुल्यतापत्तौ सत्यां द्रष्ट्रव्यं,
अन्यथा—

स्मार्ते काले किया भूमेस्सागमा भुक्तिरिप्यते । इसादिवचनविरोधापत्तेः । एवंच पञ्चाधिकशतवर्षपर्यन्तस्य स्मार्तकालव्वाभिधानं प्रायिकाभिष्ठायेणेति मन्तव्यम् ।

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां भुक्तिनिरूपणम्

अथ साक्षिलक्षणानि । तत्र मनुः—

यादशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः। तादशांत्सम्प्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः॥

साक्षिणां लक्षणानि अनुयोजनिविधि च वक्ष्यामीत्यर्थः । तत्रादौ लक्षणानि दर्शयति —

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्राविद्छुद्रयोनयः । अर्थज्ञास्साक्ष्यमईन्ति न ये केचिदनापदि ॥

मौलाः प्रतिष्ठिताः । अर्थज्ञाः साध्यमर्थे विदितवन्तः 'समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाचैव सिद्धचिति' इति तेनैवोक्तत्वात् । गृहिण इसादिषु पुछिङ्गनिर्देशो विविक्षतः, उपादेयगतत्वात् । अत एव नारदः—

कुलीना ऋजवश्गुद्धाः जन्मतः कर्मतोऽर्थतः ।
साक्षिणश्भुचयोऽनिन्द्याः पुरुपास्स्युस्मुबुद्धयः ॥
एवंविधाः पुरुषाः ऋणादिषु माक्षिणस्स्युरित्यर्थः । तथाच
व्यासः—

धर्मज्ञाः पुत्रिणो मौलाः कुलीनास्सस्रवादिनः।
श्रीतस्मार्तिक्रियायुक्ता विगतद्रेपमत्सराः॥
श्रोत्रिया नपराधीनाः सूरयश्चाप्रवासिनः।
युवानस्साक्षिणः कार्याः ऋणादिपु विजानता॥
इति । श्रोत्रियाः श्रुतिपाठकाः। एवमुक्तविधा न जातु कूटतां
प्रतिपद्यन्त इसाह स एव—

ज्ञात्वा कार्य देशकालकुशलाः कूटकारकाः । कुर्वान्त सदृशं लेख्यं नैते स्युस्साक्षिणो यथा ॥ कात्यायनोपि—

प्रष्यातकुलशीलाश्च लोभमोहिवविजताः । आप्ताश्शुद्धा विशिष्टा ये तेषां साक्ष्यमसंशयम् ॥ तेषामिति वहुवचनं द्रचेकसङ्खचासाक्षिवाक्यमेवं न निश्चाय-कमिति प्रतिपादनार्थम् । अत एव मनुः—

त्रचवरैस्साक्षिभिभीवयो नृपत्राह्मणसिन्धो । इति । भाव्यः साधनीयः त्रयः अवरा निकृष्टा येषां ते त्रचवराः, त्रित्वाद्नसङ्ख्या साक्षिष्वप्रशस्तेत्यर्थः । यत्तुक्तं वृ-हस्पतिना—

नव सप्त पञ्च वा स्युश्चत्वारस्त्रय एव वा।

उभौ वा श्रोत्रियौ ख्यातों नैकं पृच्छेत्कदाचन॥

इति, तत्रोभाविति छिखितगूढसाक्षिविपयम् । यतोऽनन्तरमाह
स एव—

लिखितौ द्रौ तथा गूढौ त्रिचतुःपश्च लेखिताः।
यहच्छास्मारिताः कुल्यास्तथा चोत्तरसाक्षिणः॥
इति । लिखितादीनां भेद उपरिष्टाद्रक्ष्यते । यत्पुनस्तेनोकं—

दूतको घटिकाग्राही कार्यमध्यगतस्तथा ।
एक एव प्रमाणं स्यात्रृपोऽध्यक्षस्तथैव च ॥
इति, घटिकाग्राही गणकः । अध्यक्षः प्राड्विवाकः । यदापि
व्यासेन—

शुभिक्रियश्च धर्मज्ञस्साक्षी यत्रानुभूतवान् ।
प्रमाणमेकोपि भवेत्साहसेषु विशेषतः ॥
इति, यदपि कासायनेन—
अभ्यन्तरस्तु निक्षेपे साक्ष्यमेकोपि वाच्यते ।
अर्थिना प्रहितस्साक्षी भवत्येकोपि दूतकः * ॥
संस्तुतं येन संन्यस्तं तत्तेनैव विभावयत् ।
एक एव प्रमाणं स विवादे तत्र कीर्तितः ॥
इति, तदेतत्सर्वमुभयानुमतसाक्षिविषयम् । बहुत्ववदुभयसंमतत्वस्याप्यनाप्तत्वशङ्काव्युदासकत्वात् । अत एव नारदः—

अथवाऽनुमतो यस्य द्वयोविवदमानयोः । स साक्ष्येकोऽपि साक्षित्वे प्रष्टव्यस्स्यातु संसदि ॥

^{*} याचते.

इति । एवंच त्रचवरा इति सङ्घ्यानियमो छिखितगूहे।भयानुमतन्यतिरिक्तसाक्षितिपय एवेत्यनुसन्धेयम् । उभयानुमतसाक्षिविपये छिखितगृहसाक्षिविषये च न्यूनसङ्घ्यापक्षस्यापि
विहितत्वात् । अत एव सङ्गहकारः—

कर्तव्यास्सर्वकार्येषु त्रिभ्य आरभ्य साक्षिणः।
द्वर्चेकयोः प्रतिषेधस्स्यादेकोष्युभयसम्मतः॥
इति । साक्षिणो ल्रिखितगूढव्यतिरिक्ताः । त्रिभ्य आरभ्य
कर्तव्या इत्यर्थः। साक्षिण इत्यनुवृत्तौ नारदः—

त्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यश्रुद्रा ये चाप्यिनिन्दिताः। प्रतिवर्णे भवेयुस्ते सर्वे सर्वेषु वा पुनः॥

सति सम्भवे व्यवहर्तुस्सवर्णास्साक्षिणः इत्यर्थः। एवं वर्णे तरजाताविप व्यवहर्त्तसजातीया भवेयुः।

यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः । इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । जातिश्रहणं श्रेण्यादेरप्युपलक्षणा-र्थम् । अत एव नारदः—

> श्रोणिषु श्रेणिपुरुवास्त्वेषु वर्गेषु वर्गिणः । वहिर्वासिषु वाह्यास्स्युः श्लियः स्त्रीषु च साक्षिणः ॥

इति । अत्रापवादमाह स एव— श्रेण्यादिषु तु वर्गेषु कश्चिचेद्वेष्यतामियात् । तस्य तेभ्यो न साक्ष्यं स्यात् द्वेष्टारस्सर्व एव ते ॥ श्रेण्यादिषु ये यस्य द्वेषं कुर्वन्ति ते तस्य न साक्षिण इत्यर्थः । श्रेण्यादिग्रहणं वर्णादिशद्शैनार्थे, द्वेषग्रहणं चायथा-र्थकथनकारणवतामुपलक्षणार्थम् । अत एव मनुः—

> आप्तास्सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदोऽछुब्धाः विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥

आप्ताः वित्रलम्भकव्यतिरिक्ताः । विपरीतान् अयथार्थव.द-कारणोपेतान्वर्जयेदिसर्थः । तानेवाह भ एव—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न महाया न वैरिणः।
न दृष्ट्रोपाः कर्तव्या नव्याध्यार्ता न दृष्पिताः॥
न साक्षी नृष्तिः कार्यो न कारुककुशीलवो।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न मंद्रभयो विानिर्गत ॥
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दृस्युर्न विकर्मस्टत्।
न वृद्धो न शिशुर्नेको नान्यो न विकलेन्द्रियः॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न कुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्तो न कामार्तो न कुद्धो नाषि तस्करः॥

इति । अर्थसम्बन्धिनः विप्रतिपद्यमानार्थस्य सम्बन्धिनः । आप्तास्तु कासायनेन दार्शताः—

> तद्वृत्तिजीविनो ये च तत्सेवाहितकारिणः। तद्वन्धुम्रहृदो भृत्या आप्तास्ते तु न साक्षिणः॥

इति । सहायाः प्रतिभूषभृतयः । वैरिणः विप्रतिपन्नयोर्न्य-Smriti Cha.—Vol. III 23

तरस्य दृष्टदोषाः कूटसाक्षित्वेनान्यत्र ज्ञाताः । दूषिताः महा पातकादिदोपेण । नृपतिः वहुव्यापारव्याकुलत्वात् प्रतिपिध्यते । कारुकः शिल्पोपजीवी हेमकारादिः । कुशीलव रङ्गावता री, तयोरर्थप्रवणत्वात् प्रतिपेधः । श्रोतित्रयोऽत्र कर्मानुष्ठान-निष्ठो विवक्षितः, न पुनक्श्रुतिपाठकः, तस्य साक्षित्वेनो-क्तत्वात् । लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी यतिश्र । संघेभ्यो विनिर्गतः वानमस्थादिः । एतेषु अात्रियादिष्वयथार्थवादहेत्वभावेऽपि वचनवलेनैव पतिपेधोऽध्यवसेयः । आध्यथीनो मानसच्याः धिविह्नलः । वक्तव्यः कुष्टादीना कुत्सिनदेहः । दस्युः कूर-चेष्टः । विकर्मकृत् शास्त्रविरुद्धकर्मकृत् । वृद्धः जरावशेन स्विलित-वुद्धः। शिशुः अपूर्णपोडशवर्षः । एको विवदमानाभ्याम-ननुमतः । अन्सः चण्डालादिः । विकलेन्द्रियो वधिरादिः । आर्तादयो व्यक्ताः । तेपां भेदः पूर्वम्रक्तोऽत्राप्यनुसन्धे<mark>यः ।</mark> नारदोपि वर्जनीयानाह-

दासनैकृतिकाश्राद्धवृद्धश्चीवालचाकिकाः ।

मनोन्मनप्रमन्तर्तिकतवग्रामयाजकाः ॥

महापथिकसामुद्रविणविश्वविज्ञतील्याः ।

युग्मैकश्चोत्रियाचारहीनक्वीवकुशील्याः ॥

नास्तिकत्रात्यदाराग्नित्यागिनोऽयाज्ययाजकाः ।

एकस्थालिसहायारिचरज्ञातिसनाभयः ॥

पाग्द्दृष्टदेषिशैलूपविपजीव्याहितुण्डिकाः ।

गरदाप्रिदकीनाशश्द्रापत्युपपातकाः॥
क्रान्तसाहिसकाशान्तिनिर्धृतान्तावसायिनः।
भिन्नवृत्तासमावृत्तजडतैलिकपौपिकाः॥
भूताविष्टतृपाद्विष्टवर्पनक्षत्रस्चकाः।
अघशंस्यात्मविन्नेतृहीनाङ्गभगवृत्तयः॥
कुनली श्यावदन् श्वित्री मित्रध्रुक्शशौण्डकाः।
पेन्द्रजालिकलुव्धोग्रश्रेणीगणिवरोधिनः॥
वधकचित्रकृत्सूर्वः पतितः कूटकारकः।
कुहकः प्रत्यवसितस्तस्करो राजपूरुपः॥
मनुष्यविषमांसास्थिमधुक्षीराम्बुमपिपाम्।
विन्नेता ब्राह्मणश्चैव द्विजो वार्धुपिकश्च यः॥
च्युतस्स्वधमीत् कुलिकः सूचको हीनसेवकः।
पित्रा विवदमानश्च भेदकुचेयसाक्षिणः॥

इति । नैकृतिकः पररन्ध्रान्वेषणशीलः । चाक्रिको वैतालिकः । सामुद्रविणक विहत्रथायी । युग्मौ हित्वविशिष्टौ । एक-स्थालीत्यस्य द्रेधा विग्रहः, एकपाकसाधनस्थाली यस्य पुरुषस्य, विप्रतिपत्रयोरन्यतरेण पुरुषेण सह यस्य वा एकं भोजनस्थालं स एकस्थाली एकपाकः सहभोजनो वेति यावत् । अरिषु चरतीत्यारचरः शत्रुसम्बन्धीति यावत् । सनाभयस्तु कात्यायनेन दार्शताः—

मातृष्यस्यताश्चेव सोद्यास्तमातुलाः। एते बनाभयस्त्रकास्साक्ष्यं तेषु न योजयेतु ॥ इति । शैळूपो नटः । विषजीवी विषस्य सङ्गहणरक्षणादिव्या-पारे नियुक्तः । आहितुाण्डिकः सर्पग्राही । गरदो विपदः । अग्निदो गृहदाहकः । कीनाशः कृपणः । क्रान्तः खिन्नः । निर्धू-तो वहिष्कृतः । अन्तावसायी प्रतिलोमजः । भिन्नवृत्तो दुरा-चारः । असमावृत्तो नैष्टिकब्रह्मचारी । जडो मन्द्वुद्धिः। तैं लिकस्तिलघाती, महायन्त्रिक इति यावत् । पौषिकः अपू-पादिविक्रयी । वर्षस्चको वृष्टिस्चक , नैमित्तिक इति यावत्। नक्षत्रमुचको ज्योतिषवृत्तिः। अघशंसी परदोपप्रकाशकः। भगवृत्तिः स्ववृत्तये भार्यावेदयात्वकारी । शौण्डिको मद्य-विकयी । मूर्खो देवतां गृहीत्वा याचकः । कुहको दास्मि-कः। प्रस्वासितः पत्रज्यातो निष्टत्तः। सूचकः परदोपसूच-नार्थे राज्ञा नियुक्तः । भेदक्कत् पिशुनः । अन्ये प्रसिद्धाः। कात्यायनोपि कतिपयानसाक्षिजनानाह—

कुल्यास्सम्बन्धिनश्चैव विवाह्यो भगिनीपतिः।

पिता बन्धुः पितृब्यश्च श्वशुरो गुरवस्तथा ॥

नगरग्रामदेशेषु नियुक्ता ये पदेषु च ।

बक्षभाश्च न पृच्छेयुर्भक्तास्ते राजपूरुषाः॥

इति । ये कुल्यादयो राजपुरुषान्ताः कीर्तिताः ते साक्ष्यं

कर्त्वं न पृच्छेयुः न साक्षिणस्स्युरिसर्थः।

नन्वयमसाक्षिकथनपश्ची व्यर्थः । लक्षणोक्सैवार्थाद्विल-क्षणानामसाक्षित्वासिद्धेः, सत्यमेवं तथाऽपि यत्र सर्वधा वि-हितसाक्षिणामलाभः तत्र मनुष्यमात्रस्य साक्षित्वं 'न येकेचि-दनापादि ' इति मनुवचनतोऽर्थात्प्राप्तं, तत्र केपांचित्प्रतिपेधा-र्थं 'नार्थसम्बन्धिनो नाष्ताः ' इसादिवचनरचना कृतेत्यर्थवाने-वायं प्रपञ्चः । एवंच लक्षणान्वितसाक्षिणामलाभे प्रतिपेधराहित्य-मात्रशालिनां साक्षित्वं विद्वितमिसनुसन्धेयम् । अत एव तेपा-मापे प्रशंसा व्यासेन कृता—

> दिन्यमोपधिभिर्मन्त्रैः प्रायेण न्यभिचार्यते । न खरवदोपदुष्टानां न्यभिचारोस्ति साक्षिणाम् ॥

इति । यत्पुनर्भनुनोक्तं—
अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात् साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेद्यमन्यरण्ये वा शरीरस्यापि वाऽसये ॥
स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं वास्त्रेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण वन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ॥

इति । अनुभावी कार्याभिज्ञः । यदापि नारदेन— असाक्षिणो ये निर्दिष्टाः दासनैकृतिकादयः । कार्यगौरवमासाद्य भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥

इति । कार्यगौरवं कार्यस्य प्रशस्तज्ञातुः राहिसम् । तदेत-त्सर्वे साहसाद्यास्थिरकर्मविपयं तत्र प्रशस्तानां दुर्छभत्वात् । अत एव संग्रहकारः— उत्क्रप्टमध्यमाभावे निषिद्धा अपि साक्षिणः ।
साहसादिषु मन्तव्याः कालकार्यानिवन्धनाः ॥
इति । अत्र विशेषमाहोशना —

दासोऽन्धो विधरः कुष्ठी स्त्रीवालस्थिवरादयः।
एतेऽप्यनिभसम्बन्धाः साहमे साक्षिणो मताः॥
अनिभसम्बन्धाः मित्रारिभावराहिताः । साहसे साहसा
दिग्वित्यर्थः। अभिसम्बन्धाश्चेत् साहसादिष्विपि ते वर्जनीया एव । अत एव नारदः—

तेषामिष न वाल्लस्स्यान्नैको न स्त्री न कूटकृत्। न वान्धवो न चारातिर्वूयुस्ते साक्ष्यमन्यथा।। तेषां दासनेकृतिकादीनां मध्येऽषि व्यक्तानृतहेतुशालिनो वालादयो वर्षा इत्यर्थः। व्यक्तानृतहेतवोऽषि तेषु तेन दिशताः—

> वालोऽज्ञानादसस्रात् स्त्री पापाभ्यासाच कूटकृत् । विब्रूयाद्धान्धवस्स्त्रेहाद्वैरनिर्यातनादरिः ॥

असत्यात् असयशीलत्वादित्यर्थः । अनेनाज्ञत्वासयशीलत्वाद्यधर्मनिष्ठत्वात्यन्तोत्कटरागद्वेषशालित्वादीन्येव व्यक्तानृतहेतवो न पुनर्वालत्वादयः इति दर्शितम् । एवेमकस्मिन्निष नैकत्वं व्यक्तानृतहेतुः अपितु लुब्धत्विमत्याह मनुः—
'एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यात्' इति । एवंचाज्ञत्वासयशील-

त्वादिदोपाणां सद्भावे दासादयोापे हेयाः, तदभावे तु बालादयोष्युपादेयाः इति साहसादिविषयेऽनुसन्धेयम् । यत्पुः नर्मनुनोक्तं—

> साहसेषु तु सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च । वाग्दण्डयोश्र पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ।।

इति, यदापि कासायनेन—

व्याघातेषु नृपाज्ञायाः सङ्गहे साहसेषु च ।

स्तेयपारुष्ययोश्चैव न परीक्षेत साक्षिणः ॥

इति, तद्गृहस्थत्वादिगुणगणिवषयपरीक्षाया निषेधकं न पुनरज्ञ-त्वादिदोपविषयपरीक्षाया अपि, पूर्वीक्तवचनविरोधात् । य त्पुनः कात्यायनेनोक्तं—

ऋणादिषु परीक्षेत साक्षिणिस्थिरकर्मसु ।
साहसासियके चैव परीक्षा कुत्रचित् स्मृता ॥
इति, यद्यत्र साहसादौ पराजये वधादिगुरुतरदण्डमाप्तिसम्भावना, तत्र परीक्षाविधानार्थ ऋणादिसाहचर्यादक्षत्वादिदोपपरिक्षायाः सार्वत्रिकत्वेन कुत्रचिद्धिधानासम्भवाच । यत्तु याक्षवस्त्रयेनोक्तं—

सर्वस्साक्षी सङ्ग्हणे चौर्यपारुष्यसाहसे।
इति, तद्दपि गुणपरीक्षामात्रनिवृत्त्यर्थमित्यवगन्तव्यम्।
इति स्मृतिचन्द्रिकायां साक्षिळक्षणानि.

अथ साक्षिभेदाः । तत्र कात्यायनः---लेख्यारूढश्चोत्तरश्च साक्षी मार्गद्रयान्त्रितः ।

इति । प्रजापतिरापि-

साक्षी द्विभेदो विज्ञेयः कृत एकोऽपरोऽकृतः। छेख्यारूढः कृतो ज्ञेय उत्तरोऽकृत उच्यते॥

लेख्यारूढो लिखितादिरिसर्थः । तथाच नारदः— लिखितस्स्मारितश्चैवं यदच्छाभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पश्चविधस्समृतः ॥

तथा अकृतसाक्षिभेदोपि तेनैव दर्शितः---

अकृतष्पिङ्घिस्साक्षी सूरिभिः परिकीर्तितः । ग्रामश्च प्राष्ट्रिवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ॥ कार्येष्वभ्यन्तरो यस्स्यादियना प्रहितश्च यः । कुल्याः कुल्रविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥

इति । तत्र तावत्कृतानां लक्षणमाह वृहस्पतिः—
जातिनामादि लिखितं येन स्वं पित्रचमेव च ।
निवासश्च स विज्ञेयः साक्षी लिखितसंज्ञिकः ॥
आह्य यः कृतस्साक्षी ऋणन्यासाक्रियादिके ।
स्मार्थते च मुहुर्यश्च स्मारितस्स उदाहृतः ॥
कियमाणे तु कर्तब्ये यः कश्चित्स्वयमागतः ।
अत्र साक्षी त्वमस्माकमुक्तो याद्यच्छिकस्तु सः ॥

कुड्यव्यविहितो यस्तु श्राव्यते ऋणिभागितम् । विनिष्कृते तथाभूत अगृहमाक्षी स उच्यते ॥ यत्र साक्षी दिशं गच्छन् मुपूर्पुर्वा यथाश्रुतम् । अन्यं संश्रावयेत्तं तु विद्यादुत्तरसाक्षिणम् ॥

इति । लिखिते तु विशेषमाह हारीतः—
सुदीर्घेणापि कालेन लिखितस्सिद्धिमामुयात् ।
आत्मनैव लिखेज्ञानवज्ञस्त्वन्येन लेखेयेत् ॥
यत्पुनस्तेनैवोक्तं—

आष्ट्रमाद्वन्सगित्सिद्धिस्स्माग्तिस्येह साक्षिणः । आपञ्चमात्तथा सिद्धियेहच्छोपगतस्य च ॥ आतृतीयात्तथा वर्षात् सिद्धिर्गूडस्य साक्षिणः । आ वत्सरातु सिद्धिं च वदन्त्युत्तरसाक्षिणः ॥ इति, तत्पूर्वपक्षत्वेनाभिहितमित्यवगन्तव्यम् । यतोऽनन्तरमाह स एव---

अथवा काल्यां न दृष्टस्साक्षिणं प्रति ।

स्मृत्यपेशं हि माक्षित्वमाहुइशास्त्रविदो जनाः ॥

यस्य नोपहता बुद्धिः स्मृतिइश्रोतुश्च साक्षिणः ।

सुदीर्वेणापि काल्येन स साक्षी साक्ष्यमहीति ॥

इति । बृहस्पतिनाऽष्यकृतसाक्षिणो निरूपिताः—

घातितं सुपितं यत्र सीमायाश्च समन्ततः ।

* विनिह्नुते तथा भूतं. पा. Ѕмвіті Сна.—Vol, ПЦ अकृतोपि भवेत्साक्षी ग्रामस्तत्र न संशयः ॥
निर्णाते व्यवहारे तु पुनर्न्यायो यदा भवेत् ।
अध्यक्षस्सभ्यसाहितः साक्षी स्यात्तत्र नात्यथा ॥
अधिप्रक्षार्थनोविष्यं यच्छ्रतं सूभृता स्वयम् ।
स एव तत्र साक्षी स्याद्विसंवादे द्वयोरिप ॥
उभाभ्यां यत्र विश्वस्तं कार्यं चापि निवेदितम् ।
गृद्धारी स विज्ञेयः कार्यमध्यगतस्तथा ॥
अधिप्रत्यार्थवचनं शृणुयात्वेपितस्तु यः ।
उभयोस्संमतस्साधुर्वृतकस्स उदाहृतः ॥
विभागादाविष ऋणे ज्ञातियेत्रोपयुज्यते ।
ह्योस्समानो धर्मज्ञः कुल्यस्स परिकीतिंतः ॥

इति । यत्पुनस्तेनोक्तं—

लिखितो लेखितो गृढः स्मारितः कुल्यदूतकौ । यादच्छिकश्चोत्तरश्च कार्यमध्यगतोऽपरः ॥ नृपोऽध्यक्षस्तथा ग्रामस्साक्षी द्वादश्चा समृतः ।

इति, तिक्ठीखितस्यावान्तरभेदं स्वनामादित्रिपिकर्तृत्वकारायितृ-त्वरूपमाश्रित्योक्तम्।

एकादशविधस्साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीपिभिः।

इति नारदेनानादलोक्तम्॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां साक्षिभेदाः

अथासाक्षिभेदाः । तत्र नारदः--

अताक्ष्यिपि हि निर्दिष्टः शःस्त्रे पश्चिविधो वुधैः ।
 वचनाद्दोपतो भेदात् स्वयम्रक्तिर्मृतान्तरः ॥

असाक्षित्वहेत्नां पञ्चविधत्वात्तद्वशेनासाक्ष्यपि पञ्चविधो वुधैर्नि-र्दिष्ट इसर्थः । अत एव सङ्ग्रहकारः—

> दुष्टत्वात्मतिपिद्धत्वादकृतत्वाद्निश्चयात् । एकाङ्गविकलत्वाच स्यादसाक्ष्यपि पञ्चघा ॥ स्तेनादिरश्चोत्रियादिश्च स्वयंभूभिन्नगीर्मिथः । मुमूर्पुश्चावितादन्यः पञ्चमस्स्यान्मृतान्तरः ॥

इति । दुष्टत्वादसाक्षी स्तेनादिः, प्रतिपिद्धत्वाच्छ्रोत्रियादिः । अकृतत्वात स्वयंभूः, अनिश्चयात् मथोभिन्नगीः, एकाङ्गवि कल्रत्वात् स्तान्तर इत्यर्थः । नारदोपि—

> स्तेनास्साहसिकाश्चणुः कितवा वधकास्तथा । असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु ससं न विद्यते ॥ श्रोत्रियास्तापसा दृद्धा ये च प्रविज्ञताद्यः । असाक्षिणस्ते वचनात्रात्र हेतुरुदाहृतः ॥ स्वयम्रक्तिरनिर्दिष्टस्स्वयमेवैत्य यो वदेत् । म्रचीत्युक्तस्स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति ॥ राज्ञा परिगृहीतेषु साक्षिष्वेकार्थनिश्चये । वचनं यत्र भिद्येत ने स्युभेदाद्साक्षिणः ॥

यो र्थवश्रावियतव्यस्त्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि ।

क्व तद्वदतु साक्षित्विमत्यसाक्षी मृतान्तरः । इति । सूची सूचकः । योऽर्थ इत्यस्यायमर्थः अस्मिन्नथे मयाऽसौ साक्षी कृत इति योऽर्थोऽर्थिना स्वस्यास्थिरत्वं मन्वानेन श्रावियत्वयः पुत्रादे ज्ञीपियत्वयः, तस्मिन्नथे असत्यज्ञा- पितेऽथिनि चासति मृते, तत्साक्षित्वमर्थिना कृतं साक्षित्वमर्था पुत्रादिः क्व कस्मिन्नथे कस्य पुरुपस्य प्रमाणोक्तिकाले वद् त्वित्यनवधृतेरसाक्षी मृतान्तर इति । अथिग्रहणं प्रत्यर्थिनो- प्युपलक्षणार्थम् । अत एव व्यासः—

अर्थी यत्र न विद्येत तत्र साक्षी मृतान्तरः । प्रत्यर्थी वा मतो यत्र तत्राप्येवं प्रकल्पयेत् ॥ अर्थिनि पत्यर्थिनि वा मृते तदीयस्साक्षी मुमूर्पुश्रादिता-दन्यो मृतान्तर इत्यर्थः ।

मृतान्तरोऽर्थिनि मेते मुमूर्पुश्राविताहते ॥ इति नारदस्मरणात् । मुमूर्पुग्रहणं स्वस्थस्याप्युपल्लणार्थम् । अत एव समृत्यन्तरं—

श्रावितोऽनातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः। मृतेऽपि तत्र साक्षी स्यात् पद्सु त्वन्वाहितादिषु॥ एवंच यद्क्तं स्वृत्यन्तरं—

> न्यासान्वाहितविक्रीते हते दत्तेऽथ याचिते । मुमूर्पुश्रावितर्णे च पृच्छित्साक्ष्यं मृतान्तरम् ॥

इति, तच्छ्रावितस्य साक्षित्वं मृतेऽपि श्रावितेऽर्थिनि नापै-तीति ज्ञापनार्थे, न पुनमृतान्तरस्यापि कवचित्साक्षित्वविधा-नार्थिमत्यवगन्तव्यम् । मृतान्तरस्य साक्षित्वासम्भवात् । यथा श्रावितस्य साक्षित्वं नापगतं तथा साक्षिद्वैधेऽप्युत्कृष्टकोटे-स्साक्षित्वमक्षतमेव । तथाच याज्ञवल्क्यः—

द्वैधे वहूनां वचनं समेषु गुणिनां तया । गुणिद्वैधे तु वचनं प्राह्यं ये गुणवत्तराः ॥ सङ्गृहकारस्त्वस्यार्थमाह—

वहुत्वेन गुणानां वा तार्तम्येन निश्चयः ।
साक्षिविप्रतिपत्तौ स्याद् सर्वसाम्ये प्रमाणता ॥
अनिश्चयादसाक्षित्वं कोट्योः विशेषाग्रहण एवेत्यर्थः । यतु
कात्यायनेनोक्तं—-

साक्षिणां छिखिनानां तु निर्दिष्टानां च वादिना । तेपामेकोऽन्यथावादी भेदात्वर्वे न साक्षिणः ॥

इति, तत्र सर्वशब्देनान्यथात्रादिसहितानामेत्र वहूनामसाक्षि-त्वमुक्तं न पुनः केवलानामित्यवगन्तव्यं, अन्यथा द्वैधे वहू-नां तचनिमत्यादिवचनिवरोधात् । तथा स्त्रयमुक्तित्वेनासाक्षित्वं मा भूदिति येन केनचित्साक्षिनिर्देशो न कार्य इस्राह स एव—

> अन्येन हि कुतस्साक्षी नैवान्यस्तं विवादयेत् । तदभावे नियुक्तो वा वान्धवो वा विवादयेत् ॥

अर्थी तदीयो वा साक्षिणं निर्दिशेन्नान्य इत्यर्थः । एवंचा-न्येन निर्दिष्टोऽनिर्दिष्टबदेवासाधीस गन्तव्यम् । अत्र प्रस क्षादन्यदिष किंचिदुक्तं नारदेन—

> द्वयोविवदतोरथें द्वयोस्सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥ आधर्ये पूर्वपक्षस्य यस्मिन्नर्थवशाद्भवेत् । विवादे साक्षिणस्तत्र पृष्टव्याः प्रतिवादिनः ॥

इति । अत्रोदाहरणं—यंत्रकं क्षेत्रं प्रतिग्रहेण प्राप्य भु कत्वा त्यक्त्वा देशान्तरं सकुटुम्बो गतः, पुनरन्येन छब्धं भुक्तं च, सोपि देशविश्वमादिना देशान्तरं सकुटुम्बो गतः। पुनस्तौ द्वाविप चिरंतनकाछापगमे स्ववृत्तिछोभेन स्वस्थान-मागत्य क्षेत्रविवादे निर्णयार्थ धर्मस्थानं युगपदागतौ, तत्रैकः प्रतिजानीते—जयतिचन्द्राख्येन राज्ञा स्वराज्यकाछे महां दत्तामिसस्मदीयमेवैतत् क्षेत्रमिति। इतरोपि प्रतिजानीते—हरि चन्द्राख्येन राज्ञा जयतिचन्द्राख्यसुतेन राज्यार्थमभिषिक्तेन महां दत्तमस्मदीयमेवैतत् क्षेत्रमिति। अथवा इतरस्यैवं प्रति ज्ञा—सत्यं जयतिचन्द्रणास्मै दत्तं कित्वेतस्य हस्ताद्धिच-नद्रण तत् क्षेत्रं क्रयेण गृहीत्वा महां दत्त्तमिसस्मदीयमेवेति, सन्ति च द्रयोरिप विवादिनोस्साक्षिणः। तत्रेदमुक्तं—'द्व योर्विवदतोर्थे' इति। अयमर्थः—यस्य विवदमानस्य पूर्व- पक्षो भवेत् पूर्वकालिकस्य दानस्य स्वत्वहेत्ततयोपन्यासेन पक्षो भवेत् तस्य साक्षिणस्सभ्यः प्रष्टव्या भवेयुर्नेतरस्य साक्षिणः, तेपामुत्तरकालदानसाक्षित्वेनासाक्षिषायत्वात् । य-दा पुनरितरप्रतिज्ञातार्थवशेनैतस्य हस्तात् कीत्वा महां दत्त-मित्यादिना पूर्वदानापन्यासपक्षस्याधर्यमकिंचित्करत्वं भवेत् तदा पश्चात् प्रतिज्ञानानस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः । न पूर्व प्रतिज्ञानानस्य, सिद्धसाध्यत्वेन वैयथ्यीत् । किंत्वसाक्षिवदु-पेक्षणीयास्त इति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामसाक्षिभेदाः

अथ साक्ष्युद्धावनम्—तत्र गौतमः—'विवितिपत्तै साक्षिनि-मित्ता सत्यव्यवस्था' इति । तेनोत्तरानन्तरमार्थेना साक्षिणस्स न्ति चित्रिदेष्टव्या इत्यभिषायः । त च निर्दिष्टास्सदोपाश्चेदूपायै-तव्याः । तथा च वृहस्पतिः—

साक्षिणोऽधिसमुद्दिष्टानं सत्सु दोषेषु दूपयेत् । अदुष्टान दूपयन्वादी तत्समं दण्डमहिति ॥ तत्समो दुष्टसाक्षिदण्डसमः । येद्वेष्यत्वादिहेत्वभिरसाक्षित्व-मुक्तं ते साक्षिदोषाः । ते यद्यर्थिनिर्दिष्टसाक्षिषु निग्दास्स न्ति तदा प्रत्यर्थिना प्रख्यापनीया इत्यर्थः । यदि पुनः प्रकटास्सन्ति तदा सभ्येरेव वक्तव्याः । तथा च कात्या-यनः— प्रमाणस्य हि ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना ।
गृढास्तु प्रकटास्सभ्यः काले शास्त्रप्रदर्शनात् ॥
प्रमाणस्य प्रमाणतया निद्धिस्य काले निर्णयकाले इत्यर्थः।
तथा च वृहस्पतिः—

साक्षिभिगेदितैस्सभ्यैः प्रकान्ते निर्णये तु यः।
पुनर्विवादं कुरुते तस्य राजा विचारयेत् ॥
गदितैर्राथिनिर्दिष्टेः प्रकटदोपरहितैः साक्षिभिर्निर्णये प्रकान्त
इत्यर्थः। प्रकान्तग्रहणं निर्णयाद्ध्वं दूपणाभिधानकाल इति
प्रतिपादनार्थम्। अत एव कात्यायनः—

लेख्यदोषास्तु ये केचित् साक्षिणां चेव ये स्मृताः। वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुक्तान्न दूपयेत्॥ उक्तात्पश्चादूपयतो दण्डमाह स एव—

उक्तेऽर्थे साक्षिणो यस्तुं दूपयेत् प्रागदूपितान् । न च तत्कारणं ब्र्यात् प्राप्तुयात् पूर्वसाहसम् ॥ तथा मिथ्यादोपेण गृहस्थत्वादिगुणाभावेन वा न दूपयेदि-त्याह स एव—

नातथ्येत प्रमाणं तु दोषेणैव तु दूषयत् । मिथ्याभियोगे दण्डस्स्यात् साध्यार्थाचापि हीयते ॥ दोषेणैव तु दूषयेत् न तु गुणाभावेन, तस्य वचनप्रामाण्य-विद्यातकारित्वाभावादित्यभिष्रायः । अत एवापदि गुणर- हितस्यापि निषिद्धेतरस्य ऋणादौ साक्षित्वमुक्तम् । अतो न गुणाभावोद्धावनमात्रेण ऋणादौ निर्दिष्टसाक्षिणाममाक्षि-त्वसिद्धिः, किन्तु दासत्वादिनिषिद्धिनिमित्तोद्धावनेनेसवगन्त-व्यम् । साहसादौ न तेनापि किन्त्वज्ञत्वासत्यशीलत्वादि-दोपोद्धावनेनैवसनुसन्धेयम् । अत एव व्यासनापि दोपोद्धा वनेनैवासाक्षित्वमुक्तम्—

साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदि प्रतिवादिना ।
पत्रे विलिक्य तान् सर्वान् वाच्याः प्रत्युत्तरं तु ते ॥
प्रतिपत्तों न साक्षित्वपर्द्दित तु कदा चन ।
अतोऽन्यथा भावनीयाः क्रियया प्रतिवादिना ॥

इति । प्रतिपत्तिद्रीपाङ्गीकारः । क्रियया साक्षिच्यतिरिक्तयेति श्रेपः । तथाच स एव—

> अन्येस्तु साक्षिभिस्साध्ये दृषणे पूर्वसाक्षिणाम् । अनवस्था भवेद्दोषः तेषामप्यन्यसम्भवात् ॥

एवं प्रतिवादिना दूषणप्रतिपादनं न प्रकटे दूपणे कार्य, वैयथ्यीत् । किन्तु सभ्येरेव तथाविधदूपणं ग्राह्मित्याह स एव—

सभासदां प्रसिद्धं यह्नोकसिद्धमथापि वा । साक्षिणां दृषणं ग्राह्यमसाध्यं दोपत्रर्णनात् ॥

ग्राह्मं परीक्षकैरिति शेषः। असाध्यं च मतिवादिना तत्र Smritt Cha.—Vol. 111 25 दूपणं, प्रसिद्धदोपाद्वजनिसद्धिरित्यर्थः । यत्र पुनरप्रसिद्धं दू षणं कीर्तितं तत्र तदसाधयतो दण्टुमाह स एव—

> असाधयन् दमं दाप्यः प्रत्यर्थी साक्षिणः स्फुटम् । भावितास्साक्षिणो दर्ज्यास्साक्षित्रमीनिराकृताः ॥

स्फुटं यथा भवति तथा साक्षिदापमसाधयित्रत्यर्थः । दोप-त्वेन साधिताः साक्षिणो यज्योः, न तु दण्ड्या इसिमित्रायः । वींजतेषु साक्षिषु यद्यर्थी ममाणान्तरं प्रति निराकाङ्क्षस्तदाऽ-सौ जितो दण्ड्य इसाइ स एव—

> जितस्य विनयं दाष्यः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा । यदि वादी निराकाङ्कः साक्षिसभ्येष्ववस्थितः ॥

निराकाङ्कः प्रमाणान्तरं प्रतीति शेषः । यदा तु साकाङ्कः तदा मानुषाभावे दिव्येनापि जयावधारणं कार्यमित्यभिपा-यः । यदा तु निर्दोषिणः साक्षिणो भवेयुस्तदा तैरेव जयावधारणं कार्यम् । तथा च वृहःपतिः—

> साक्षिणां दूषणे कार्यं पूर्वं साक्षिविशोधनम् । शुद्धेषु साक्षिषु ततः पश्चात्कार्यं विशोधयेत् ॥

तनः शुद्धसाक्षिभ्य इत्यर्थः । अनेन पूर्वव्यवहारमध्य एव प्रमाणदोषविवादनिर्णयः कार्यः । न पुनव्यवहारान्तरिनर्ण-यवत् पूर्वव्यवहारसमाप्तचनन्तरकाल इत्युक्तम् । न च व्य-वहारमध्ये व्यवहारान्तरिनर्णयस्यानुचितत्वादयुक्तमिति वा- च्यम् । प्रमाणदोषिववादिनिर्णयस्य पूर्वव्यवहारशेषत्वेन तत्रैव कार्यत्वात्, पृथक्फलाभावेन व्यवहारान्तरत्वाभावाच । तथा च स एव—

> हेरूयं वा साक्षिणो वाऽपि विवादे यस्य दूपिताः । तस्य कार्यं न सिध्येतु यावत्तन्त्र विशोधयेत् ॥

•यासोपि--

अन्तरमभनो वादः सर्वसाक्षिसमुद्रवः । .
न याति निर्णयं यावत्तावत्पूर्व विवर्जयेत् ॥
मत्यार्थनोऽर्थिनो वाऽष् साहिदूपणसाधने ।
न तु साह्यभियोगस्त्याद्रचनहागन्तरं तथा ॥

इति । अतः प्रमाणदोषितवाद्निर्णयः पूर्वव्यवहारमध्य एव कर्तव्य इति स्थितम्

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां साक्ष्युद्भावनम्.

अथ साक्षिपरीक्षा । तत्र कासायनः—
राजा कियां समाह्य यथान्यायं विचारयेत् ।
छेल्याचारेण छिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः ॥
इति । साक्ष्याचारेण साक्षिछक्षणजातेनेत्यर्थः । अत्र वृहस्पतिः—

प्रष्टव्याः साक्षिणो ये तु वर्ज्याश्चेय नराधमाः । तानहं कथयिष्यापि सांप्रतं शास्त्रचोदितान् ॥ तत्र तावत् प्रष्टच्यानाह—

श्रीतस्मार्तिकयायुक्ताः लोभद्रेपविवार्जिताः । कुलीनास्साक्षिणोऽनिन्द्यास्तपोदानदयान्विताः ॥

इति । तथा वज्यीनप्याह—

मातुः पिता पितृ व्यश्च भायीया स्नातृमातुलौ ।

स्नाता सखा च जामाता सर्ववादे प्रसाक्षिणः ॥

परस्नीपानसक्ताश्च कितवाः पूर्वदूपिताः ।

उन्मत्तातिस्साहसिका नास्तिकाश्च न साक्षिणः ॥

इति । एतच साक्ष्यसाक्ष्यभिधानं मनुनारदादिभिरुक्तानां साक्षिणामसाक्षिणां च प्रदर्शनार्थम् । अत एव शास्त्रचौ-दितानित्युक्तम् । तथा स्वरादितोऽपि साक्षिणः परीक्ष्या इत्याह स एव—

उपस्थिताः परीक्ष्यास्स्युः स्वरवर्णेङ्गितादिभिः॥ इति । तत्र ये निर्विकारास्ते वस्तुतः साक्षिणो भवन्ति । ये पुनस्सविकारास्ते कूटसाक्षिण इत्यवगन्तव्यम् । अत एव मनुः—

वालहद्भातुराणां तु साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥
उत्सिक्तमनसामधीराणाम् । विष्णुरिष—'स्वभावाद्विक्ठतौ मुखवर्णविनाशे चासम्बन्धप्रलापे कूटसाक्षिणं विद्यात्' इति ।
नारदोऽपि—

यस्त्वात्मदोपदुष्टत्वादस्वस्थ इव लक्ष्यते ।
स्थानात् स्थानान्तरं गच्छेदेकेकं चानुघावति ॥
कासत्यकस्माच भृशमभीक्ष्णं निश्वसत्यपि ।
विलिखसवनीं पद्भचां बाहू वासश्च धूनयेत् ॥
भिद्यते मुखवर्णोऽस्य ललाटं स्विद्यते तथा ।
शोपमागच्छतश्चौष्ठावृध्वं तिर्यवच वीक्षते ॥
त्वरमाण इवात्यर्थमपृष्ठो वहु भापते ।
कूटसाक्षी स विज्ञेयः तं पापं विनयेद्धृशम् ॥

इति । याज्ञवल्कयोऽपि--

देशादेशान्तरं याति स्विवणी परिलेढि च। ललाटं स्विचते यस्य मुखं वैवर्ण्यमेति च॥ परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भापते। वाक्चक्षः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यि॥ स्वभावाद्विकृति गच्छेत् मनोवाक्कायकर्मभिः। अभियोगे च साक्ष्ये च दुष्टस्स परिकीर्तितः॥

इति । एवं च दुष्टचिह्नविहीनाः साक्षिलक्षणलिताश्च साक्षि-णो यद्यपस्थितास्तदा तैर्निर्णेतन्यम् । अथ विपरीतास्तदा प्रमाणान्तरेणेत्यनुसन्धेयम् ।

इति स्मृतिचिन्द्रकायां साक्षिपरीक्षाः

अथ साक्ष्यनुयोजनिविधः ! तत्र मनुः—
सभान्तस्साक्षिणस्सर्वानिधिगत्यियंसैनिधौ ।
प्राद्विवाकोऽनुयुकीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥
अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना सर्वान् साक्षिणोऽनुयुकीत यथार्थकथनोन्मुखान् कुर्वीतेत्यर्थः । तमेव विधि दर्शयति—

यहुयोरनयोर्वित्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः।
तह्रत सर्व संयेन युष्माकं द्यत्र साक्षिता॥
समझदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाचैव सिषचाति।
तत्र सत्यं वृवन् साक्षी धर्माधाभ्यां न हीयते॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रवन् साक्षी छोकानाप्नोति पुष्कछान्।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥
ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यस्तेजसामिव।
शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सयमुत्तमम्॥
ससेन पूयते साक्षी धर्मस्सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नातिशङ्कते।
तस्मात्न देवाः श्रेयांसं छोकेऽस्मिन् पुरुषं विदुः॥

इति । ब्राह्मणो वा ब्राह्मण इवेत्यर्थः । एवं शिरो वेत्यत्रा-पि वाशब्द उपमानार्थोऽत्रगन्तव्यः । यस्य साक्ष्यं वदतः साक्षिणः विद्वान् क्षेत्रज्ञो नातिशङ्कते, तस्मात् श्रेयां- समस्मिन् लोके देवा न विदुरित्यन्त्यश्लोकस्यार्थः। नार-दोपि—

> सत्यमेव परं दानं सत्यमेव परं तपः । सत्यमेव परो धर्मो छोकानामिति नः श्रुतिः ॥ सत्यं देवास्समासेन मनुष्यास्त्वनृतं स्मृतम् ॥ इहैव तस्य देवत्वं यस्य सत्ये स्थिता मितः ॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् । साक्षिधेमें विशेषेण सत्यमेव वदेदतः॥

इति । व्यासोपि-

साक्षिभावे नियुक्तानां देवता वियति स्थिताः । पितरश्चावलम्बन्ते वितथाख्यानशङ्कया । सत्यवाक्यैर्वजन्त्यूर्ध्वमधो यान्त्यन्यथालते । तस्मात्सत्यं प्रवक्तव्यं भवद्भिस्सभ्यसंनिधो ॥

इति । मनुरपि-

साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्वध्यते वारुणैर्नरः । विवशक्शतमा जातीस्तस्मात्साक्षी वदेदतम् । आत्मैव द्यात्मनस्साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः । माऽवमंस्थास्त्वयात्यानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् । मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पक्ष्यतीति नः । तांस्तु देवाः पपक्ष्यन्ति यस्यैवान्तरपृक्षाः । द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः । रात्रिस्सन्ध्या च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥

इति । शतमा जातीः शतं यावज्जन्मानि । नारदोपि— कुवेरादित्यवरुणशक्रवैवस्वतादयः । पश्यन्ति लोकपालाश्च नित्यं दिव्येन चक्षसा ॥

तेन वश्चनाऽपि न सुकरेत्यभिष्रायः । उच्थ्योपि—

यस्साक्षी कौटसाक्ष्यं तु विवदेद्भुवि निर्भयः ।

उभयोस्सप्त गोत्राणामधस्तान्नयति ध्रुवम् ॥

सप्तजन्मकृतं पापं शरीरे यत्तु तिष्ठति ।

यद्भाति तस्य सर्वस्वं यस्तु साक्ष्यं मृषा वदेत् ॥

इति । बृहस्पतिरापि-

कूटसभ्यः कूटसाक्षी ब्रह्महा च समाः समृताः । भ्रूणहा वित्तहा चैपां नाधिकस्समुदाहृतः॥

मनुरापि-

साक्षी दृष्टश्रुताद्न्यद्विबुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्करकमभ्येति मेत्य स्वर्गाच हीयते ॥ वसिष्ठोपि—

अथ चेदनृतं ब्रूयात् सर्वतोऽमेध्यभक्षणम् ।

मृतो नरकमायाति तिर्यग्गच्छेत्त्वनन्तरम् ॥
अमेध्यभक्षणयुतं नरकं मृतो गच्छतीत्यर्थः । कात्यायनोऽपि—

कालपाशावृतग्रीवं मुद्रराहातिविह्नलम् ।

कुद्धः कण्टिकनीं भूमिं तं नयेद्यमिकिङ्करः ॥

असिपत्रवनाद्यातशलल्यालिङ्गनातुराः ।

पूयशोणितसंपूर्णां नदीं पास्यन्ति दारुणाम् ॥

इति । कालपाशावृतग्रीवं कृष्णायसपाशबद्धग्रीवम् । नारदोपि—

निरयेषु च ते शश्विज्ञिह्मामुत्कृत्य दारुणाः । असिभिश्शातियष्यान्ति बिलनो यमिकङ्कराः ॥ शुल्ले मत्स्यानिवाक्षिप्य कोशन्तमपरायणम् । अवाक् शिरसमुत्किप्य क्षेप्स्यन्त्यशे हृदेषु च ॥ लोहयन्त्रादिपीडाभिः क्षतिपपासामुविह्मलः । प्रक्षिप्यते तथा घोरे नरके संप्रतापने ॥

इति । उज्ञनाऽपि—

स्रोहग्रुश्रमुखोत्खातस्रोचनार्द्राकृताननाः । पीतष्यन्त्यन्धतामिस्रे नरके पापमोहिताः॥

वितामहोपि-

गृहान्ततप्तसंदंशिजहात्रोटनमूर्छितम् । किङ्कराः पातियिष्यन्ति महारौरवरौरवे ॥ व्यासोपि—

वधचन्ते वारुणः पाशैः साक्षिणोऽनृतवादिनः ।
पिष्टं वर्षसहस्राणि तिष्टन्ति नरके ध्रुवम् ॥
Smrit Cha.—Vol. III

तेषां वर्वशते पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते । कालेऽतीते मुक्तपाशः तिर्यग्योनिषु जायते ॥

इति । नारदोपि-

आपि चेन्नरके करुपं वसेयुः कूटसाक्षिणः ।
परिवत्तहरा ये च राजानश्चाप्यधार्मिकाः ॥
अनुभूय च दुःखार्ताः चिरं नरकवेदनाम् ।
इहायास्यन्त्यभव्यासु गृध्रकाकादियोनिषु ॥

इति । वसिष्ठोपि-

स्करो दशवर्षाण शतवर्षाण गर्दभः ।
था वै द्वादशवर्षाण भासो वर्षाण विंशतिः ॥
क्रिमिकीटपतक्षेषु चत्वारिंशत्तथैव च ।
मृगस्तु दशवर्षाण जायते मानवः स्मृतः ॥
मानुष्यं तु यदाम्रोति मूकोऽन्धश्च भवेतु सः ।
दारिद्रश्चं तु भवेत्तस्य पुनर्जन्मनिजन्मनि ॥

इति । च्यासोपि--

मानवी जायते पश्चात् सम्परिसक्तवान्धवः ।
पङ्गन्थविधरो मूकः कुष्ठी नगः पिपासितः ॥
बुभुक्षितदशत्रुगृहे भिक्षते भार्यया सह ।
कात्वा त्वनृततो दोषान् ज्ञात्वा सत्ये च सहूणान् ॥
श्रीयम्करमिहामुत्र सत्यं साक्ष्ये वदेदतः ।

इति । एवं सम्बोधनमेतैरेव वचनैः कार्यः, न पुरुषान्तररचि-तैः । यत आइ नारदः—

पौराणैर्धमेव चनैः ससमाहात्म्यकीतेनैः । अनृतस्यापवादैश्च भृशमुत्त्रासेयदिषि ॥ इति । आर्षेस्सस्तुतिकसस्यवादिविधिवचनैः साक्षिणां प्रोत्साहनम्, अनृतप्रतिषेधवचनैः दुरितापूर्वफलसहितैरत्यर्थं भीषणमिष कुर्या-दित्यर्भः ॥

इति स्मृतिचिनद्रकायां साध्यनुयोजनविधिः

अथ साध्यमश्रविधिः । तत्र गनुः—
देवब्राह्मणसाभिध्ये साध्यं पृच्छेद्दतं द्विजान् ।
उदङ्गुस्तान् प्राङ्गुस्तान्वा पूर्वाक्षे वै शुचिक्शुचीन् ॥
द्विजानिति साक्षिपुरुषोपलक्षणार्थम्, उपात्तविशेषणत्वात् । अत
एव नारदः—

आहूय साक्षिणः पृच्छे नियम्य शपथे भृशम् । समस्तान्निदिताचारान्विज्ञातार्थान् पृथक्षृथक् ॥ भयावहै श्रवपथे स्सत्यनिष्ठान् कृत्वा प्रत्येकं पृच्छे दिस्रर्थः । ते च शपथास्तेन दर्शिताः—

> सस्रेन शापयेद्धिमं भित्रयं नाहनायुधैः। गोनीजकाश्चनैर्वेदयं शुद्रं सर्वेस्तु पातकैः॥

सत्यादीप्टविघातोपदर्शनेन विषादीन्, वस्यमाणानिष्ठाषात्तदर्शनेन शूदं श्रापयेदित्यर्थः । प्रक्ते तु विशेषो मनुना दर्शितः—

बूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् ससं बूहीति पार्यिवम् ।

इति । एवं चान्यथा ब्रुवतस्ससं ते नश्यित, अतोऽवधार्य बूहीति ब्राह्मणे । क्षत्रिये तु अन्यथावदतस्तव वाहनायुधानि विफल्लानि भविष्यन्ति, अतोऽवधार्य सत्यं ब्रुहीति प्रश्नोऽवगन्तव्यः । वैश्ये तु प्रश्ने विशेषास्मृतेः गोवीजकाभनैर्वियोगस्स्यात् यद्यन्यथा ब्रूया इसेवं शपथेन नियम्य यथाकामं
पृच्छेत् । शूद्रे तु प्रक्षवाक्यप्रकारो मनुना प्रपश्चितः—

ब्रह्मच्नो ये स्मृता लोकाः ये च स्त्रीवालघातिनः ।

मित्रद्भुहः कृत्रप्तस्य ते ते स्युर्वद्तो मृपा ॥

जन्मप्रभृति यित्कश्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।

तत्ते सर्व शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यस्त्वं कल्याण मन्यसे ।

निसं स्थितस्ते हृद्येप पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैप हृदि स्थितः ।

तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥

नमो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।

आन्धदशत्रुगृहं गच्छेत् यस्साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥

अवाक्षित्रपास्तमस्यन्थे किल्बिपी नरकं व्रजेत् ।

यत्प्रशं वितयं श्रूयात् पृष्टस्सन् धर्मनिश्चये ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्चाति स नरः कण्टकेस्तह ।
यो भापतेऽर्थवैकल्यममत्यक्षं सभां गतः ॥
यावतो बान्धवान्यस्मिन् इन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतस्सङ्ख्या तस्मिन् भृणु सोम्यानुपूर्वशः ॥
पश्च पश्चनृते इन्ति दश इन्ति गवानृते ।
शतमश्चानृते इन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥
इन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वे भूम्यनृते इन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥
अफ्सु भूमिवदिसाहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अक्नेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वंश्ममयेषु च ॥
एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्चृतं यथादृष्टं सर्वभेवाञ्चसा वद ॥

इति । कुरुः कुरुक्षेत्रम् । अञ्चसा शुद्धेन हृद्येन। अत्र केचित्— 'नन्नो मुण्हः' इत्यादिश्कोकत्रयमपक्षण्यानुयोजनविधौ निवे-श्वनीयम्, अन्यथाऽनन्वयस्स्यादिति मन्यन्ते । तदा 'मा कु-रून गमः' इसिभिधानानन्तरं 'यावतो बान्धवान्' इत्याद्य-भिधातन्यमित्यगन्तन्यम् । अयं च शूद्रमश्चविधिरनापदि हीनहत्त्युपजीविनां द्विजानामपि भवति, तेषामलपशपथेन नि-यन्तुमशक्यत्वात् । अत एव मनुः—

> गोरक्षकान्याणिजकान् तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वाधीषिकांश्चेव विषाञ्खूद्रवदाचरेत् ॥

ये व्यपेताः स्वकर्मभ्यः परिषण्डोपजीविनः । द्विजत्वमभिकांक्षन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥ द्विजत्वमभिकाक्षन्तीति वदन्नद्विजातीनामम्बष्टादीनां शूद्रवदेव प्रश्नविधिं दर्शयति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां साक्ष्यप्रश्नविधिः

अथ साध्यवादाविधिः। तत्र कात्यायनः--सभान्तस्थेस्तु वक्तव्यं साक्ष्यं नान्यत्र साक्षिभिः। सर्वसाक्ष्येष्वयं धर्मी हान्यत्र स्थावरेषु तु ॥ अन्यत्र स्थावरस्योपरीत्यर्थः । तथा च स एव-अर्थस्योपरि वक्तव्यं तयोरपि विना क्वचित्। चतुष्पदेष्वयं धर्मी द्विपदस्थावरेषु च ॥ तयोः पूर्वोक्तस्थानयोः । ते स्थाने विनाऽपि क्वचिद्वधंरूप-विवादे साध्यं वक्तव्यमित्यर्थः। तथा च स एव-वधे चेत्राणिनां साक्ष्यं वादयेच्छिवसन्निधौ । तदभावे तु चिह्नस्य नान्यथैव प्रवादयेतु ॥ चित्रस्य गृङ्गादेः। साध्यवादशकारमाह वसिष्ठः---पाङ्काखोऽवस्थितस्साक्षी शपथैश्शापितस्स्वकैः। हिरण्यं गोशकृद्धीन् तान् संस्पृदय वदेदतम् ॥ बृहस्पतिरपि-

विहायोपानदुष्णीपं दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ।
हिरण्यगोशकृदर्भान् समादाय ऋतं वदेत् ॥
दिक्षणं पाणिमुद्धरेत् प्रावृतं वस्तं यज्ञोपवीतवत् कुर्यादित्यर्थः ।
ऋतं वदेदित्यस्य क्वचिद्विपयेऽपवादमाह मनुः—
शूद्राविद्क्षत्रविष्ठाणां यत्रोक्ते तु भवेद्वयः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥

वृहस्पातरापि-

सकृत्प्रमादापराधिवित्रं व्यापादि पीडितम् ।
भटादिभिर्वध्यमानं रक्षेदुकृत्वाऽनृतान्यपि ॥
अपिशब्दादत्राप्यनृतोक्त्या किश्चित्पापं भवतीति गम्यते । अत
एव प्रायश्चित्तमाह याज्ञवलक्यः—

वार्णनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् । तत्पावनाय निर्वाप्यः चरुस्सारस्वतो द्विजैः ॥ मनुरपि—

> वाग्देवत्यैस्तु चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तत्र कुर्वाणाः निष्कृतिं पराम् ॥ कूरुमाण्डेर्वाऽथ जुहुयात् घृतमग्रौ यथाविधि । उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्देवतेन वा ॥

इति । विष्णुरापि-

तत्पाचनाय कूक्मण्डीभिर्दिजोऽग्रौ जुहुयात्. शुद्रश्चेकाहिकं गोदशकस्य ग्रासं दद्यात् इति ॥ यतु गौतमेनोक्तम्—
नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम् ।
इति, यदिष व्यासेन—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु नित्यं न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥
इति । तयोरयमर्थः—'साक्षिधमें विशेषेण' इत्यादिभिर्वचनै
र्यद्धिकपातकमुक्तम्, तदत्र नास्तीति । अन्यत्र तु अस्त्येव ।
तथा च गौतमः—'नासमवेताः पृष्टाः प्रब्र्युरवचने च दोषिणस्स्युः' इति । चशब्दादनृतवचने चेत्यवगम्यत इत्युक्तं व्याख्यातृभिः । असमवेतप्रतिपेधः समवेतानां साक्षिभाव एव न
सर्वत्र । यत आह वसिष्टः—

समबेतेस्तु यहृष्टं वक्तव्यं तु तथैव तत् ।

विभिन्नेनेव यत्कार्यं वक्तव्यं तत्पृथक्पृथक् ॥

भिन्नकाले तु यत्कार्यं ज्ञातं वा यत्र साक्षिभिः ।

एकैकं वाद्येत्तत्र विधिरेप प्रकीर्तितः ॥ इति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिक।यां साक्ष्यवाद्विधिः.

अथ साक्षिवचोविषयाणि कानिचित् वचनानि लिख्यन्ते। तत्र कात्यायनः—

> स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यहोपवर्जितम् । उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनःपुनः ॥

स्वभावेनैव यद्भृयुः तद्भाद्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यदिब्र्युर्धर्मार्थं तद्पार्थकम् ॥ नारदोष्यपार्थमाह—

> निर्दिष्टेष्वर्थजातेषु साक्षी चेत् साक्ष्य आगते । न ब्रूयादक्षरसमं न तन्निगदितं भवेत् ॥

साक्ष्य आगते साक्ष्यवादावसरे अक्षरसमं अक्षरानुरूपं पृष्टा-र्थामिति यावत् । अनेनापृष्टार्थसमर्पकमपार्थामित्युक्तम् । एवं पृष्टार्थन्यूनाधिकार्थं च व्यर्थं, तथा च स एव—

> ऊनमभ्यधिकं वाःर्थं वित्रूयुर्वत्र साक्षिणः । तद्प्यनुक्तं विज्ञेयमेप साक्षिविधिः स्मृतः ॥

यत्र ऋणादिस्थिरपायविवादेष्वित्यर्थः । तथा च कात्यायनः— ऋणादिषु विवादेषु स्थिरपायेषु निश्चितम् । ऊने वाऽष्यधिके वाऽर्थे प्रोक्ते साध्यं न सिध्यति ॥

यावत्यितिज्ञातार्थसाधनार्थमुहिष्टं साक्षिवाक्यमूनाधिकं चेत् सं-देहापादकमेव, न पुनः प्रतिज्ञातार्थेकदेशे साधिते वा प्रतिज्ञातार्थे प्रमाणामित्यर्थः । प्रतिज्ञातार्थेकदेशसाधनार्थमुहिष्टं साक्षिवाक्यः मिप ततो न्यूनाधिकं चेत् एवमेवाप्रमाणिमित्येतस्मादेव वच-नादवगन्तव्यम्, साध्यं न सिध्यतीति सामान्येनाभिधानात्। अस्थिरकर्मसु पुनः सिध्यसेव साध्यमित्याह स एव—

साध्यार्थोशेऽपि गदिते साक्षिभिस्सकलं भवेत्। Smriti Cha.—Vol. III 2 स्त्रीसङ्गे साहसे चोंर्ये यत्साध्यं परिकल्पितम् ॥ यत्पुनः तेनोक्तम्—

उनाधिकं तु यत्र स्यात्तत्साक्ष्यं तत्र वर्जयेत्। साक्षी तत्र न दण्ड्यस्चादबुवन् दण्डमर्हति॥ इति, तत् स्थिरकमीविषयम्। एवं निर्दिष्टार्थेकदेशविसंवादेऽपि विफल्लं साक्षिवचनामित्याह् स एव—

देशं कालं धनं संख्यां रूपं जात्याकृती वयः । विसंवदेद्यत्र साक्ष्ये तदनुक्तं विदुर्वधाः ॥ नारदोपि—

देशकालवयोद्रव्यप्रमाणाकृतिजातिषु ।
यत्र विप्रतिपत्तिस्त्यात् साक्ष्यं तद्पि विष्ठुतम् ॥
एवञ्च-ऋणादौ स्थिरकर्मणि अन्यूनातिरिक्तं पृष्टार्थसमर्पकं
साक्षिवचनं प्रमाणं नान्यदित्यनुसन्घेयम् । अत एव व्यासः--

कालाकृतिवयोद्रव्यदेशजातिप्रमाणतः । अन्यूनं चेन्निगादितं भिद्धं साध्यं विनिर्दिशेत् ॥ वृहस्पतिरापि—

यत्राशेषः भितज्ञार्थः साक्षिभिः प्रतिवार्णितः ।

स जयी स्यादन्यथा तु साध्यार्थं न समाप्त्रयात् ॥

प्रतिवर्णितः सस्रत्वेनेति शेषः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

यस्योचुस्साक्षिणस्सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् ।

अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ॥
साक्षिणस्सर्वे यस्य वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतिज्ञां साध्योक्तिं
सत्यामृचुरिसर्थः । यस्य पुनः प्रतिज्ञां कोचित् साक्षिणस्मत्या
मृचुः, केचित्त्वन्यथा तत्राह मनुः—

वहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वेधे नराधिपः । समेषु च गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वेधे द्विजोत्तमान् ॥

नारदोषि-

साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं वहवो मताः।

तत्साम्ये शुचयो प्राह्याः तत्साम्ये स्मृतिमत्तराः॥

स्मृतिमत्साक्षिसाम्यं तु विवादे यत्र दृश्यते।

सूक्ष्मत्वात् साक्षिधमस्य साक्ष्यं व्यावर्तयेत्ततः॥

इति । शुचिग्रहणं गृहस्थत्वादिगुणवतामुपलक्षणार्थम्। अत एव

याज्ञवल्क्यः—

द्वैधे वहूनां वचनं समेपु गुणिनां तथा । गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तराः ॥

अत्र वृहस्पतिः—

लिखिते साक्षिवादे च सन्देहो जायते यदा । अनुमाने च संभ्रान्ते तत्र दैवं विशोधनम् ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां साक्षिविषयाणिः अथान्यान्यापि साक्षिविषयाणि कानिचिद्वचनानि लिख्यन्ते.
तत्र याज्ञवल्क्यः—

न ददाति हि यस्साक्ष्यं जानन्निप नराधमः ।
स क्टसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥
यो विप्रतिपन्नमर्थे परमार्थतो जानन्निप दौरात्म्यात् साक्ष्यं
नाङ्गीकरोति असौ क्टसाक्षिवत्पापी दण्ड्यश्रेसर्थः ।
नारदोपि—

श्राविष्टिया ततोऽन्येभ्यः साक्षित्वं यो विनिह्नुते । स विनेयो भृशतरं कूटसाक्ष्यिको हि सः ॥ यदा पूर्वमहं साक्षीति श्रावितः साक्षिणामागमनकाछे अहं न साक्षीसपलपति असावत्यर्थे दण्ड्य इसर्थः । वृहस्पतिरिण —

अहूतो यस्तु नागच्छेत् साक्षी रोगविवर्णितः । ऋणं दमं च दाष्यस्त्यात् त्रिपक्षात् परतस्तु सः ॥ वासिष्टोपि—

यस्साक्षी नैव निर्दिष्टो नाहूतो नैव चोदितः । ब्रूयान्मिथ्येति तथ्यं वा दण्ट्यस्सोपि नराधमः ॥ कात्यायनः—

> अपृष्टस्सर्वयचने पृष्टस्याकथने तथा । साक्षिणः संनिरोद्धन्याः गर्ह्या दण्ड्याश्च धर्मतः ॥ वाक्पारुष्ये छले वादे दाप्यास्स्युश्चिशतं दमम् ।

ऋणादिबादेषु धनं ते स्युर्दाप्या ऋणं तथा ॥ इति । धनं दण्डधनम् । त इति सर्वनाम्ना प्रश्नस्योत्तरमकथयन्त एव प्रत्यवमृत्रयन्ते, तेपामसर्थं प्रकृतत्वात् । अत एवाह स एव-

साक्षी साक्ष्यं न चे द्रूयात् समदण्डं वहेहणम् ।
अतोऽन्येषु विवादेषु त्रिशतं दण्डमहीति ॥
अन्येषु ऋणादितोऽन्योष्विसर्थः । तथा च मनुः—
विषक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तहणं मानुयात्सर्वे दशवन्धं च सर्वतः ॥
अगदः स्वस्थः, तहणं साक्षिरूपप्रमाणसाध्यं धनं, सर्वे सहद्धिकं
प्राप्नुयात् दाष्य इत्यर्थः । तथाच याज्ञवल्क्यः—

अब्रुवन् हि नरस्साक्ष्यमृणं सदशवन्धकम् । राज्ञा सर्वे पदाष्यष्पद्चत्वारिंशत्तमेऽहाने ॥

दशवन्धशब्धेन दशमोंश उच्यते। स च दण्डत्वाद्राज्ञा ग्राह्यमित्यु क्तं व्याख्यात्वाभिः।अत्राधमणेंन न किञ्चिद्दातव्यम्, तद्देयमेव अ ब्रुवन् साक्षी दाप्य इति पूर्ववचनस्य तात्पर्यार्थत्वात्। न चाब्रुवता साक्षिणा स्वेन दत्तमधमणेतो ग्राह्यं, स्थापराधेन दत्तत्वात्। पद्-चत्वारिंशत्तमेऽहनीति ग्रहणात्ततो वीग्ब्रुवन्न दाप्य इति गम्यते। अत एव कात्यायनः—

सम्यिक्ष्याऽपरिज्ञाने देयः कालस्तु साक्षिणम् । सान्दिग्यं यत्र साक्ष्यं तु सद्यः स्पष्टं विवादयेत् ॥ एवश्च यदुक्तं तेन-

न कालहरणं कार्य राज्ञा साक्षिप्रभाषणे । महान् दोषो भवेत् कालाद्धभैव्याद्यत्तिलक्षणः ॥

इति, तत्स्पष्टसाक्षिविपयमित्यवगन्तव्यम्, सन्दिग्धसाक्ष्ये का-लदानविधानात् । यः पुनस्साक्षी प्रश्नवाक्यं श्रावितस्सन् वादकाले रागद्वेपान्धो नाहमत्र साक्षी भवामीति स्वसाक्षित्व-मपलपाति तस्य दण्डमाह याज्ञवलक्यः—

> यस्साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निहुते तत्तमोष्टतः । स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥

विवादादिसनुपज्यते । तेन विवादपराजयो दण्डः, तमष्टगुणं दाप्य इत्यर्थो व्वगन्तव्यः । विवासयेदित्यस्य नग्नीकरणं गृह-भङ्गः, स्वराष्ट्रवहिष्कारो वाऽर्थः । अत्र तु दण्डाविद्यद्धिसाह-चर्यात् स्वराष्ट्रवहिष्कारक्षपोऽर्थः प्रसेतव्यः । कात्यायनस्म-त्या साक्ष्यं पुनरन्यथा बुवाणा अपि साक्षिणो दण्ड्या इसाह-

उक्ताऽन्यथा बुवाणाश्च दण्ड्यास्स्युर्वाक्छलान्विताः ॥ इति । गौतमम्तु प्रथमत एव 'अन्यथा बुवाणो गर्ह्यो दण्ड्य-भ्व ' इत्याह । 'मिथ्यावचने दाप्यो दण्ड्यश्च साक्ष्ये ' इति । याज्ञवलक्यस्त्वेवंविधसाक्षिणो दण्डे विशेषमाह—

> पृथक्पृथक् दण्डनीयाः कूटकत्साक्षिणस्तथा । विवादात् द्विगुणं दण्डं विवास्यो त्राह्मणस्समृतः ॥

कूटं साक्ष्यं कुर्वितिति कूटकृतः मिथ्यावादिन इति यावत्।
ते राज्ञा पृथक्पृथक् दण्डनीयाः। विवादपराजयिनवन्धनद्
मात् द्विगुणं दमिससर्थः। विवाद्धो ब्रह्मण इत्यविशेषे
णोक्तेऽपि यत्र क्षत्रियादीनामरूपधनेन द्विगुणो दमः सम्पद्यते, तत्र ब्राह्मणस्य नग्नीकरणरूपविवासनं दण्डः। यत्र तु
बहुधनेन क्षत्रियादीनां, तत्र गृहभङ्गरूपविवासनं ब्राह्मणस्य।
यत्र पुनरिवद्दधनेन क्षत्रियादीनां, तत्र स्वराष्ट्रवहिष्काररूपविवासनं ब्राह्मणस्येति मन्तव्यम्, दण्डतारतम्यस्य दोपतारतम्यानुविधायित्वात्। अत एव मनुनाऽनृतवीजिनवन्धनदोषतारतम्यानुसारेण दण्डवैचिव्यमुक्तम्—

लोभान्मोहाद्धयान्मैत्रात् कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्धालभावाच मार्क्ष्यं वितधमुच्यते ॥
तेपामन्यतमे स्थाने यस्माक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रयक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥
लोभात्महस्रं दण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वे तु साहसम् ।
भयाद्वै मध्यमो दण्डो मेत्रात्पूर्वे चतुर्गुणम् ॥
कामादशगुणं पूर्वे कोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानात् द्वे शते पूर्णे वालिश्याच्छतमेव तु ।
एतःनाद्वः कौटमाक्ष्ये प्रोक्तान् दण्डान्मनीपिणः ।

इति । लोभोऽर्थपरत्वम् । मोहस्सम्यक्म आर्थानवधारणम्।

भयमनिष्टमाप्तिशङ्का । मैत्री स्नेहातिशयः । कामो रितविषया भिलाषः । क्रोधोऽमर्पः । अज्ञानं समक्षदर्शनश्रवणसमय ए-वान्यथाज्ञानम् । वालिश्यं अप्राप्तवुद्धिस्थैर्यम् । अत्र लोभ-भयमैत्रनिमित्तानृते तुल्यदोपे वचोभङ्गचोत्मसाहस उक्तः । कामतोऽनृते तु ततो दोपवाहुल्यात् साधोत्तमसाहसद्वयमुक्तम् । क्रोधनिमित्ते पुनस्ततोपि दोपवाहुल्यादुत्तमसाहसत्रिकमुक्तम् । मोहे त्वल्पदोपत्वात् प्रथमसाहस उक्तः । अज्ञाने तु ततोऽ ल्पदोपत्वात् कार्पापणशतद्वितयमुक्तम् । वालिश्ये पुनस्ततोऽ-प्यल्पदोपत्वात्तदर्थमेवोक्तमिति मन्तव्यम् । इदं च दण्डवैचि-व्यं ब्राह्मणस्यापि कूटसाक्षिणो ज्ञेयम् 'एतानाहुः कौटसा-क्ष्ये' इस्रविशेषस्मृतेः ।

> कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः । प्रवासयेदण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥

इति । कौटसाक्ष्याद्यत्तिविषये ब्राह्मणस्य विशेषस्मरणाच । कः पुनरत्र विशेषः? न तावदण्डियत्वा प्रवासनं क्षत्रियादेः। ब्राह्मणस्य तु प्रवासनमात्रिमिति विशेषो युक्तः, सकृत्कृतेऽिष कौटसाक्ष्ये ब्राह्मणस्य याज्ञवल्क्येन प्रवासनविधानात् अ भ्यासेऽिधकदण्डानुक्तिप्रसक्तेः । अतो यत्कैश्चिदुक्तं तुशब्दो ब्राह्मणे धनदण्डिनिद्यस्यर्थे इति, तदपास्तम् । कथं ताई ब्राह्मणे दण्डिविशेष डक्तः? उच्यते—प्रवासशब्देनात्र दन्तच्छदच्छेदनं जिहाच्छेदो मारणं चोच्यते । विवासशब्देन तु नशीकरणादि कम् । तेन दण्डियत्वेत्यस्यानुपङ्गेऽिप विशेषोक्तिर्युक्ता । प्रवासन्विवासनावान्तरभेदादन्तच्छद्च्छेदाद्यो नशीकरणाद्यश्च कौ-टसाक्ष्यविषयानुसारेणाभ्याससङ्ख्याविष्ठद्भयनुसारेण चानुसन्धातव्याः । अनवधारितहेतुके कौटसाक्ष्ये सकृत् कृते 'पृथ-क्षृथक्' इत्यादिवचनोक्तो याज्ञवल्कीयो दण्डः, अन्यत्र मानव इति चानुसन्धेयम् । यत्पुनिविष्णुनोक्तं 'कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहारः कार्यः' इति, तद्भम्यनृत्विषयामिति कैश्चिदुक्तम्, श्द्राद्यधर्मजातिविषयं वा द्रष्टव्यम् । कूटमाक्षिग्रहणं तिन्नर्दे शक्क्यापि पदर्शनार्थम् । अतं एव कात्यायनः —

येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टाः कूटसाक्षिणः । .
गृहीत्वा तस्य मर्वम्वं कुर्यान्निर्विषयं ततः ॥

निर्विषयं स्वदेशानिर्वासनम् । येन पुनः निर्दिष्टसाक्षिणां कूट-त्वायोद्यमः कृतः स हीनो भवतीत्याह नारदः—

> न परेण सम्रादिष्टमुपेयात्माक्षिणं रहः । भेद्येत न चान्येन हीयेतैवं समाचरन् ॥

तेन तथा चर्न्तं हीनदण्डेन दण्डयेदित्यभिष्रायः। एवं कूट-साक्षिणं तिन्नदेशकं दण्डायत्वा च कूटसासिवचनानिणीतं कार्य निवर्तनीयम्। तथा च मनुः —

्यस्मिन्यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्यं कृतं भवेत्। Smriti Cha.—Vol. III 28 तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥

किस्मिन् पुनः कार्ये कौटसाक्ष्यं भवतीत्यपेक्षिते याज्ञवल्क्यः —

उक्तेऽपि साक्षिभिस्साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तराः ।

द्विगुणा वाऽन्यथा ब्र्युः क्टास्स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥

अस्यार्थः यत्रार्थिना सिन्निहिता असिन्निहिताश्च वहवस्साक्षिणो निर्दिष्टाः, तत्रासिन्निहितानयने क्षेत्रमालोच्य यदा संनिहितेरेवा-लिमसङ्गीकृतः तद्वचनािन्निणीतमिथनः पराजय इति तं च परा-जयं कौटसाक्ष्यनिवन्यनमिति मन्यमानोऽधी पुनः पूर्वमुदिष्टानस-निहितान् संनिहितेभ्यो गुणवत्तरान् द्विगुणान्वाऽऽनीय विजयी भवति, तदा पूर्वसिन्निहिताः साक्षिणः कूटास्स्युरिति । कात्यायनोपि—

> यत्र वै भावितं कार्यं साक्षिभिवादिना भवेत्। मतिवादी यदा तत्र भावयेत् कार्यमन्यथा॥ बहुभिश्च कुलीनैर्वा पूर्वीस्स्युः कूटसाक्षिणः।

इति । अस्यार्थः — अर्थिना निर्दिष्टेषु साक्षिष्वर्थिपक्षानुकूलमभि-हितवतसु यदा प्रसर्थी सङ्ग्चया गुणैर्वाऽधिकान् साक्षिणः पूर्वी-क्ताविपरीतं वादयति, तदाऽधिसाक्षिणः कूटास्स्युरिति । ननु च एकस्मिन् व्यवहारे कथमर्थिपत्यर्थिनोस्साक्षिसम्भवः ?

न चैकस्मिन्विवादे तु किया स्याद्यादिनोर्द्वयोः। इति प्रतिषिद्धत्वात् । अत एव 'यत्र वै भावितम्' इत्यादिवच- नस्य पुनर्वाधविषयत्वमाश्रीयते । तेन न कश्चिद्विरोधः । एकस्य साक्षित्वविषये तु मनुराह—

> यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥

सप्ताहावधिकं दैविकव्यसनोद्भावनेनैकस्य साक्षिणः परीक्षणं क-र्तव्यिमसर्थः । एतच परीक्षणं दूतकादेः साक्षिणः कार्यम्, न पुनर्गुणान्वितस्य नृपाध्यक्षयोवी, तत्रैकैकस्याप्यनृतसंभावनास-म्भवात् । अत एव व्यासः—

> मिणमन्त्रापिधवलात् पद्तं चाविधानतः। विसंवदेदिव्यमपि न तु साक्षी गुणान्वितः॥

अत एव बृहस्पतिना द्तकादेः नृपाध्यक्षयोः व्यवधानं कतम्-द्तको घटिकाग्राही कार्यमध्यगतस्तथा । एक एव प्रमाणं स्यात्रृपोऽध्यक्षस्तथैव च ॥

इति । घटिकाग्राही गणकः । इतरौ कात्यायनेन दर्शितौ— अभ्यन्तरस्तु निक्षेपे साक्ष्यमेकोपि वाच्यते । अधिना पहितस्साक्षी भवसेकोपि दूतकः ॥

> इति स्मृतिचन्द्रिकायां साक्षिविषयाणि. साक्षिप्रकरणं समाप्तम्.

अथासाक्षिमत्ययाः.

तत्र नारदः--

असाक्षिप्रस्यास्त्वन्ये पिंड्रवादाः प्रकीर्तिताः । स्रक्षणान्येव साक्षित्वमेषामाहुर्मनीपिणः ॥ अग्निद्वादिविवादेषूल्काहस्तत्वादिचिह्नान्येव साक्षिकार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा च स एव—

> उत्काइस्तोऽभिदो क्षेयः शस्त्रपाणिश्र घातुकः । केशाकेशी पृहीतश्र युगपत्पारदारिकः ॥ कुद्दालपाणिर्विक्षेयस्सेतुभेना समीपगः । तथा कुटारपाणिस्तु वनच्छेचा प्रकीर्तितः ॥ प्रत्यप्रचिक्षैविक्षेयो दण्डपारुष्यकुन्नरः । असाक्षिप्रत्यया होते पारुष्ये तु परीक्षणम् ॥

इति । प्रस्तप्राचिक्षैः न्तनक्षतादिभिः । असाक्षिप्रस्याः वि-नाऽपि साक्षिभिश्चिक्षैरेव विगतसंश्चयाः, पारुष्ये तु परीक्षणं दण्डपारुष्ये कृत्रिमचिक्षविवेकाय परीक्षणं कर्तव्यमित्यर्थः । तथाच स एव—

कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनश्चिहं द्वेपात्परमुपद्रवेत् ।
युक्तिहेलर्थसम्बन्धैस्तत्र युक्तं परीक्षणम् ॥
तत्र पारुष्य इत्यर्थः । नन्विद्मनर्थकं वचः—
तल्लवहृत्रयते व्योम खद्योतो हव्यवादिव ।

न तर्ल विद्यते व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः ॥
तस्मात्प्रसक्षदृष्टेऽपि युक्तमर्थान् परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान् अधर्मात्परिहीयते ॥

इति। उल्काहस्तादौ सर्वत्र परीक्षणस्य तेनैव विहितत्वात्।सत्यम् तत्रैवोपायविधानार्थे परीक्षणमन् चत इत्यदोपः । एवं चौर्य-विवादोपि कश्चिदसाक्षिप्रत्ययोऽवगन्तव्यः । तथाच शक्क-लिखितौ—

'केशाकेशी सङ्ग्रहणात् पारदारिकः उल्काहस्तोऽग्निदः श स्त्रपाणिर्घातुकः लोन्न्रहस्तश्रोरः' इति । लोन्न्मपहतैकदेशादि-लिङ्गम्, अत्रापि परीक्षणं कार्यम् । तथाच नारदः—

> यात्यचारोपि चारत्वं चोरश्चायात्यचारताम् । अचोरश्चोरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः ॥

इति। अतः परीक्षणमावश्यकमित्याभिप्रायः। अत एव बृहस्पतिः-

लिखिते साक्षित्रादं च संदेहो यत्र जायते । अनुमाने च संभ्रान्ते तत्र दैवं विशोधनम् ॥ अनुमानं उल्काहस्तत्वादियुक्तिः ।

अनुमानं विदुर्हेतुस्तर्कश्चेति मनीपिणः॥ इति व्यासस्मरणात्॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामसाक्षिप्रत्ययाः.

अथ दिन्यनिरूपणम्.

तत्र पितामहः —

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु साक्षिणां नास्ति सम्भवः ।
साहसेषु विशेषेण तत्र दिन्यानि दापयेत् ॥
साक्षिग्रहणं मानुषप्रमाणोपलक्षणार्थम् । अत एव याज्ञवल्क्यः —
प्रमाणं लिखितं भुक्तिस्साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।
तेषामन्यतमाभावे दिन्यान्यतमग्रुच्यते ॥

एषामन्यतमाभाव इति युक्तचभावस्याप्युपलक्षणार्थम् । अत एव नारदः —

युक्तिष्वप्यसमर्थासु शपथेरेव निर्णयेत् । अर्थकालव्लापेक्षमग्रचम्बुसुकृतादिभिः ॥ अर्थापेक्षं सिषाधयिषितार्थाल्पत्वमहत्त्वक्रपमित्यर्थः । तथाच व्यासः —

अर्थानुरूपाक्शपथास्समृतास्ससथटादयः॥

इति । तत्रार्थालपत्वानुरूपास्सस्यादय इसाइ बृहस्पतिः—

ससं वाहनशस्त्राणि गोवीजकनकानि च ।

देवब्राह्मणपादाश्च पुत्रदारशिरांसि च ॥

एते तु शपथाः मोक्ताः स्वल्पेऽर्थे सुकरास्सदा ।

इति । स्वल्पेऽर्थे इति स्वल्पपीडाया अपि सिषाधियिषितायाः

प्रदर्शनार्थम् । अत एव सामान्येनोक्तं नारदेन—

सत्यं वाहनशस्त्राणि गोवीजकनकानि च । देवतापितृपादाश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ इसेते शपथाः प्रोक्ताः मनुना स्वल्पकारणे ।

इति । स्वरुपकारणे स्वरुपापराध इत्यर्थः । सुकृतानि चेति च-शब्देनान्येऽपि लोकप्रसिद्धाः शपथाः सङ्गृह्यन्ते । अत एव शक्किखितौ 'इष्टापूर्तपदानमन्यांश्च शपथान् कारयेत्' इति। यत्पुननीरदेनोक्तम्—

कारणे महति प्रोक्तं दिन्यं वादार्थिनां नृणाम् ।

इति, यदापे पितामहेन —

महापराधे दिन्यानि दापयेत्पृथिवीपतिः ।

इति, तत्तुलादिदिन्याविषयम् । यदाह याज्ञवल्क्यः—

तुलाग्रयापो विषं कोशो दिन्यानीह विशुद्धये ।

महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥

इति । अग्निशब्देन तप्तायः पिण्डस्तप्तमापस्तप्तफालं च निर्दिश्यते सामान्येनाभिधानात् । तेन तप्तमापफाले अप्यस्मादेव वचनात् महाभियोगे शीर्षकस्थे चाभियोक्तारे विहिते इति बोद्धव्यम् । शीर्षकं विवादपराजयनिवन्धना दण्डः, व्यवहारशिरस्थानीय-त्वात्, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः । एतदुक्तं भवति 'न महा-भियोगमात्रे तुलादीनि भवन्ति, किंतु यत्रैतस्य जयेऽहामित्थं दण्ड्य इति शरीरदण्डमर्थदण्डं वा मिथ्याभियोगिनो विहितमभि

योक्ता स्वकृताभियोगदार्ट्यापनायाङ्गीकुरुते तत्रैव, इति । अत एव नारदः—

शिरोवर्ती यदा न स्थात्तदा दिव्यं न दीयते। इति । शिरोवर्ती यदा न स्यादिभयोक्तेति शेषः । तथा च पितामहः—

अभियोक्ता शिरस्थाने दिन्येषु परिकरुप्यते । अभियुक्ताय दातन्यं दिन्यं श्रीतिनिद्शेनात् ॥ दिन्यं घटादिपञ्चकेष्वन्यतमम् । एतानीति याज्ञवरुक्येन विशेषिन् तत्वात् । अत एव नारदः—

> यथाविधानेन सदा पश्च दिन्यानि धर्मतः । द्दद्राजाऽभियुक्तानां पेत्य चेह च नन्दाति ॥

अनेन अभियोक्तृणामेतानि दिन्यानि भवन्तीत्यर्थोदुक्तम् । उक्तं च कात्यायनेन—

> न कश्चिद्भियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत् । अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं दिव्यविशारदैः॥

कश्चित् सभापसादिः । दिव्यविशारदाः प्राडिवाकादयः । अने नार्थिपत्यीयनोरन्यतरेच्छया दिव्याङ्गीकारे नायं नियम इत्यर्था-दुक्तम् । उक्तं च याज्ञवल्क्येन--

रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः।

इति । नारदेनाप्युक्तम् —

आभेयोक्ता शिरस्थाने सर्वत्रैव प्रकलिपतः। इच्छया त्वितरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः॥

सर्वत्र शिरोवित दिव्यपश्चक इत्यर्थः । अभियुक्तस्य शिरोवर्तन-मनपलापदार्ह्यख्यापनार्थम् ।अत एव एतस्य जयेऽहमित्थं दण्ड्य इत्यपलापिनो विहितदण्डाङ्गीकारः । तथा कचिद्विषये न कोऽ-पि शिरो वर्तयेदित्याह स एव—

शिरोऽवस्थायिनि नरे अभियोक्तर्युपस्थिते । दिव्यप्रदानमुचितमन्यत्र नृपशासनात् ॥ रुपशासनात् नृपाज्ञया त्वशिरांस्यिप घटादीनि भवन्ति । तथा-च स एव—

अशिरांसि च दिव्यानि राजा भृत्येषु दाषयेत् । इति । याज्ञवल्क्यस्त्वपराधविशेषे शिरोवस्थाननियमस्याप्यप-वादमाह—

विनाऽपि शीर्पकात् कुर्यात् नृपद्रोहेऽथ पातके । शीर्पकात् शीर्पकवर्तनादिसर्थः । तथा विष्णुः — 'राजद्रोह-साहसेषु विना शीर्षकवर्तनात् ' इति । तुलादीनि नियोज्या-नीति शेपः । तथाच कात्यायनः —

पार्थिवैश्शङ्कितानां तु तुलाद्गीनि नियोजयेत् । आत्मशुद्धिविधाने च न शिरम्तत्र कल्पयेत् ॥ Smriti Cha.—Vol. III लोकापवाददुष्टानां शिङ्कतानां च दस्युभिः । तुलादीनि नियोज्यानि न शिरस्तत्र वै भृगुः ॥ इति । दस्युभिस्सह वासेन शिङ्कतानामिसर्थः । यत्पुनस्तेनोक्तं-

न शङ्कामु शिरः कोशे कल्पयेतु कदाचन ।

इति । तच्छङ्काभियोगे कोशस्य ऋणादावप्यशिरस्त्वनियमार्थम् । कदाचनेत्यभिधानात् । शङ्काभियोगे च कोशो व्यासेनाभिहितः—

> घटोऽग्निविपतोयं च प्रमाणं तु चतुर्विधम् । दैविकस्य प्रभेदोऽयं कोश्चश्वक्षासु पञ्चमः ॥

शङ्कास्विति विश्वासादीनां पदर्शनार्थम् । अत एव कासायनः-

शङ्काविश्वाससंघाने विभागे रिक्थिनां सदा । क्रियासमूहकर्तृत्वे कोशमेव प्रदापयेत् ॥

वितामहोवि--

विस्नम्भे सर्वशङ्कासु संधिकार्ये तथैव च । एपु कोशः पदातव्यो नित्यं चित्तविशुद्धये ॥

कोशः शिरोरहित इति शेपः । तथा च स एव— शिरस्थायिविहीनानि दिव्यानि परिवर्जयेत् । धटादीनि विपान्तानि कोश एकोऽशिरास्समृतः ॥

शक्काभियोगादिविषय इति शेषः । महातत्त्वाभियोगे कोशोषि शिरस्थायिविहीनो वर्ष्य एव । 'शीर्षकस्थेऽभियोक्तारे' इति पञ्चिद्वच्यशेषतया याज्ञवल्क्येनोक्तत्वात् । महातत्त्वादियोगेष्विषि राजप्राद्विवाकेतरसभायां तु न धटादिदिव्यपञ्चके शिरः-कल्पनमास्ति । वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभो स्मृतौ । अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावापि ॥ इति । राजपाड्विवाकसभायामेव दण्डस्य व्यवहाराशिरस्त्यानीय-स्योक्तेः । ततश्च,

शिरस्स्थायिविहीनानि दिव्यानि परिवर्जयेत् । इत्यादिवचनं राजपाद्विवाकसभाविषयमेवेति मन्तव्यम् । एवंच यत्पितामहेन 'मिथ्याक्रिया पूर्ववादे ' इत्यस्यान्यथाकरणार्थमुक्तं

अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं श्रृतिनिदर्शनात्। इति, तदिप राजपाडिवाकसभाविषयमेवेत्यवगन्तव्यं, न तद्व्यिति-रिक्तसभायाम्। अत एव 'मिथ्याक्तिया पूर्ववादे' इति वचनो-क्तार्थानतिक्रमेण सभ्यार्दिव्याभिधानं क्रियमाणं युक्तमिति लि-खितादिवदेव भवतीति मन्तब्यम्। न च;

तण्डुलाश्चेव कोशश्च शङ्कास्वेतौ नियोजयेत् ।

इति पितामहवचने तण्डुलसाहचर्याच्छङ्कास्वेव कोश इतिशङ्का
कार्या । 'शीर्षकस्थे' इत्यादिपूर्वीक्तयाज्ञवल्क्यवचनिवरोधापत्तेः । तण्डुलसाहचर्ये त्वल्याभियोगेऽपि कोशो भवतीति
ज्ञापनार्थम् । अत एव नारदः—'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति।
एवंच 'महाभियोगेष्वेतानि' इति याज्ञवल्क्येनोक्तो नियमस्तुलादिविपान्तविपय एवेत्यनुसन्धेयम् । कोशस्यापि नियमे पूर्वीक्तनारदवचनविरोधः स्थात् । अत एव सङ्गहकारः—

धटादीनि विषान्तानि गुरुष्वर्थेषु दापयेत् । इति । यत्पुनस्तेनोक्तम्—

कोशादीनि पुनस्तीणि लघ्वर्थेषु यथाकमम् । इति, तदपहार एव लघ्वर्थनियमकथनार्थम्, न पुनरपह्ववेऽ पि; कोशतण्डुलतप्तमापाणां गुर्वर्थापद्वेव विहितत्वेन लघ्वर्थेष्वे वेति नियमासम्भवात् । लघ्वर्थेष्वपि शङ्कास्वेव तण्डुलाः

तण्डुलाश्चेव कोशश्च शङ्कास्त्रेतौ नियोजयेत् । इति पितामहस्मरणात् । तप्तमापोपि लघ्वर्थेपु शङ्कायामेव । अल्पचौर्यादिशङ्कायां तप्तमापकमादिशेत् । इति तेनैव स्मृतत्वात् । फालमपि कचिक्रघ्वर्थे प्रदातव्यम् । तथाच वृहस्पतिः—

गोचरस्य प्रदातव्यं सभ्मैः फालं प्रयत्नतः । इति । एवंच

महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ।

इति नियमाऽम्रावुच्यमानोऽयःपिण्डामिविषयो न तप्तमापफा-लामिविषय इसवगन्तव्यम् । अत एवामिदिव्यानां पृथङ्किदशों वृहस्पतिना कृतः—

> धटोऽग्निरुद्कं चैव विषं कोशश्च पञ्चमम्। पष्टं च तण्डुलाः मोक्तं सप्तमं तप्तमापकम्।। अष्टमं फालमित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत्।

दिन्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा ॥ इति । धर्मजं तु महाभियोगवहिष्कृतत्वाल्लघ्वर्थेष्वेव नियतमिति मन्तन्यम् । यत्तु पितामहेनोक्तं—

हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् ।
संदिग्धेऽर्थेऽभिशस्तानां धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥
तस्यायमर्थः—हिंसाधनदातकाद्यभियोगेष्वलपेष्वभिशस्तानां धर्मः
जं दिव्यमिति ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां दिव्यनिरूपणम्

अथाभियोगाल्पत्वमहत्त्वज्ञानोपयोगीनि कानिचिद्रचनानि छि-ख्यन्ते । तत्र मनुः—

लोकसंव्यवहरार्थं यास्संज्ञाः प्रथिता भुवि । ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ दण्डादिव्यशास्त्रार्थव्यामोहापनुपत्तये ताम्रादीनां परिमाणानि-वन्धनास्संज्ञाः पद्दर्यन्त इत्यर्थः । प्रतिज्ञातार्थं दर्शयति—

> जालान्तरगते भानौ यत्मुक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षेका पारिमाणतः । ता राजसर्पपिस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्पपः ॥ सर्पपाष्पड्यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।

पश्चकृष्णलको मापः ते सुवर्णस्तु पोडश ॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयी रूप्यमापकः ॥
ते पोडश स्याद्धरणं पुराणं चैव राजतम् ।
कार्पापणस्तु विज्ञेयस्तास्त्रिकः कार्पिकः पणः ॥
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतम् ।
चतुससुवर्णको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥
एतेषां श्लोकानां तात्पर्यार्थः प्रातिलोम्यनोच्यते—

इति । एतेषां श्लोकानां तात्पर्यार्थः प्रातिलोम्यनोच्यते— निष्कशतमानशब्दावेकपले कृष्यद्रव्ये वर्तते । अत एव रुप्यसंज्ञा-धिकारे,

> श्चतमानं तु दशभिः धरणैः पलमेव तु । निष्कस्सुवर्णा श्चत्वारः,

इति याज्ञवल्ययेनोक्तम् । पणकार्षापणशब्दौ पलचतुर्थाशकर्षस्य ताम्रद्रव्यस्य नामधेयम् । पुराणधरणशब्दौ पलदशमांशस्य रूप्यद्रव्यस्य नामनी । कर्षचत्वारिंशत्तमांशस्य रूप्यद्रव्यस्य मा पसंज्ञा । दशपलस्य धरणसंज्ञा । सा च रजतेतरद्रव्यविषये वे-दितव्या । राजतधरणस्यालपपरिमाणत्वात् पलसंज्ञा सर्वद्रव्य-विषयेऽवगन्तव्या, विशेषासमृतेः । सुवर्णशब्दस्तु काञ्चनकर्षवच-नः 'सुवर्णविस्तौ हेम्नोक्षे' इस्रमरिंसहेन विशेषितत्वात् । अक्षे कर्ष इत्यर्थः 'ते पोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री' इति तेनैवोक्तत्वात् । कर्षपोडशभागस्य मापसंज्ञा । सा च रूप्यद्रव्यादन्यत्र विशेषा, रूप्यमापकस्य कपिचत्वारिंशत्तमांशत्वात् । कृष्णलशब्दस्तु कार्पा-शीतिभागवाची, मापपश्चमांशत्वात् । एवं सर्पपिलक्षात्रसरेणु-पदार्थेष्विपि द्रव्येयत्ता स्वयमूहनीया । 'यवो मध्यः' इसत्र मध्यशब्दः श्लोकपूरणार्थ इत्युक्तं तद्राष्ये । त्रसरेणौ पद्मरजस्संज्ञा-ऽपि पुराणे दार्शता—

अष्टानां परमाणूनां समवायो यदा भवेत् । त्रसरेणुस्समाख्यातस्तत्पद्मरज उच्यते ॥ इति । मापशब्दः कार्पापणस्य विंशतितमे भागे वर्तत इत्याह कात्यायनः —

> मापो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्पापणस्य तु । काकणी तु चतुर्भागा मापकस्य पणस्य च ॥ पञ्चनद्याः प्रदेशे तु संज्ञेयं व्यावहारिकी ।

- इति । सुवर्णशब्दो हादशपलवाचीत्याह वृहस्पतिः —
 ताम्रकपेकृता मुद्रा विज्ञेयः कार्षिकः पणः ।
 स एव चाण्डिका मोक्ता ताश्चतस्रस्तु धानका ॥
 ता द्वादश सुवर्णास्तु दीनाराष्ट्यस्स एव तु ।
- इति । कात्यायनोऽपि—
 कार्पापणोऽण्डिका ज्ञेया ताश्चतस्रस्तु धानकः ।
 ते द्वादश सुवर्णास्तु दीनाराश्चित्रकः स्मृतः ॥
- इति । पले तु विकल्पो याज्ञवल्क्येन दार्शतः पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वाऽपि प्रकीर्तितम् ।

इति । राजतोपि कार्पापणोऽस्तीत्याह नारदः— कार्पापणो दक्षिणस्यां दिशि रौप्यः प्रवर्तते ।

इति । व्यासस्तु सौवर्णनिष्कस्य प्रमाणमाह—
प्रान्यष्टो सुवर्णस्य सुवर्णाश्च चतुर्दश ।

एतिविष्कप्रमाणं तु व्यासेन परिकीर्तितम् ॥

इति । अत्र मनूक्तप्रमाणान्तरमापादिः दिन्यदण्डविषये देशन्य-वहारिवरोधेऽपि ग्राह्य एव । तथा च वृहस्पातिः—

संख्या रिश्मरजोमूला मनुना समुदाहृता।
कार्पापणान्तो सा दिव्ये नियोज्या विनये तथा॥
इति । कार्पापणान्तग्रहणं निष्कप्रमाणे तु नायं नियम इति प्राति-पादनार्थम् । तेन निष्कान्तरेण दिव्यं किंचिदुत्तरत्रोच्यमानः मविरुद्धम् ।

इति स्मृतिचद्रिकायां अभियोगाल्पत्वमहत्त्वज्ञानोपयोगीनि॥

अथ धनपरिमाणतो दिन्यन्यवस्था.

तत्र कात्यायनः—

दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्पयेत् ।

इति । अपह्नवोऽपलापः । कथं कल्पयेदिस्येपेक्षिते स एवाह—

सर्वे द्रव्यप्रामाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् ।

हेमप्रमाणयुक्तं तु तदा दिव्यं नियोजयेत् ॥

ज्ञात्वा सङ्घ्यां सुवर्णस्य शतनाशे विषं स्मृतम् ।
अशितेस्तु विनाश वै दद्याचैव हुताशनम् ॥
पष्ट्या नाशे जलं देयं चत्वारिशति वै घटम् ।
विश्वदशिवनाशे तु कोशपानं विधीयते ॥
पञ्चाधिकस्य वै नाशे तद्धीर्धस्य तण्डुलाः ।
तद्धीर्धविनाशे तु स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकम् ॥
तद्धीर्धविनाशे तु लौकिवयश्च क्रियास्समृताः ।

इति।सर्वत्र विनाशशब्दस्यापह्नवार्थता प्रसेतव्या । 'दत्तस्यापह्नवो यत्र ' इत्युपक्रान्तत्वात् । विंशदृशविनाशे त्रिंशद्विनाशे विंशद्विनाशे वेत्यर्थः । पञ्चभ्योऽधिकः पञ्चाधिकष्पद्पभृतिरिति यावत् । तद्रधर्धिस्य सार्धसुवर्णप्रमृतेर्विनाशे तण्डुलाः । तद्र्धार्धविनाशे त्वष्टांशोनसुवर्णार्धप्रस्तेर्विनाशे पुत्रदारशिरस्स्पर्शनम् । तदर्धाः र्धविनारो तु सार्धसप्तकृष्णलप्रसतेर्विनारो तु द्रव्याष्टगुणव-चनाद्यो लौकिकाश्यपथाः । चशब्दस्स्मार्तशब्दानां सङ्गहार्थः। अत एव विष्णुः—" सर्वेष्वेवार्थजातेषु मूल्यं कनकं कल्पयेत्तत्र कुष्णलोने शुद्रं दूर्वाकरं शापयेत्, द्विकृष्णलोने तिलकरं, त्रिकृष्णलोने रजतकरं, चतुःकृष्णलोने सुवर्णकरं, पश्चकृष्णलोने सीरोद्धतमहीकरं, दिगुणेऽर्थे यथाऽभिहिता समयक्रिया वेश्यस्य, त्रिगुणेऽर्थे राजन्यस्य, चतुर्गुणेऽर्थे ब्राह्मणस्य'' इति । सीरो-द्भृतमहीकरं लाङ्गले। द्भृतहस्तमित्यर्थः । ऊनग्रहणं अधिके शाप-विनिष्टत्त्यर्थम् । शापे तु विशेषमाह मनुः ---

सत्येन शापयोद्भिषं क्षत्रियं वाहनायुधेः। गोवीजकाञ्चनवैंश्यं शुद्रं सर्वेस्तु पातकः॥

अस्यार्थः — यद्यहमर्थापद्यवी स्यां तदा सत्याभिधानधर्मो मम निष्फलस्यादिति शपथकारिणं ब्राह्मणं वाचयेत्। एवं क्षत्रि यादीन्, सत्याभिधानधर्मो मम निष्फलस्यादित्यस्य स्थाने वा हनायुधानि मम निष्फल्लानि स्युरिति क्षत्रिये। गोवीजकाञ्चना नि निष्फल्लानि स्युरिति वैश्ये। सर्वाणि पानकानि मम स्युरिति स्रुद्रे विशेष इति। पादस्पर्शादीनां विषयः समृत्यन्तरे दर्शितः —

> निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम्। ऊनत्रिके तु पुष्पं स्यात् कोशपानमतः परम्॥

निष्कशब्दंनात्र काञ्चनकर्पचतुर्थाशो मुद्रामुद्धितः प्रतिपाद्यते। तत्रापि किचिदेशे निष्कस्य व्यवहारात् । ननु मन्को मापादिः दिव्यादिविषये ग्रहीतव्य इति नियमान्न व्यावहारिकनिष्कप्रतिपादनं
युक्तम्। मैवम्, निष्के मनूक्तग्रहणिनयमो नास्तीत्युक्तत्वात्। किंच
तत्र मनूक्तनिष्कस्य राजतपल्लात्मकस्य मूल्यं काञ्चनकार्पाधादः
धिकं भवति । तत्र सत्यवचनिदेशो 'चतुर्गुणेऽर्थे ब्राह्मणस्य'
इति विष्णुवचनविरोधः स्यात् । चतुर्गुणस्य हि कृष्णलपञ्चकस्य
कर्पचतुर्थाशत्वात् । तस्माद्रचावहारिकनिष्काश्रयेण सस्यवचनाः
दिव्यवस्थोक्तेति मन्तव्यम् । पारिशेष्यादिष्टापूर्तादिसुकृतदानं,
जातिशपथविषयाद्धिके धर्मजदिव्यविषयाद्ने धनेऽवगन्तव्यम्।
धर्मजस्य तु विषयमाह वृहस्पतिः—

शते हुनेऽपहुते च दातव्यं धर्मशोधनम् । इति । कार्पापणशतप्रभृति निकृष्टस्य, द्विशतप्रभृति मध्यमस्य, चतुरुशतप्रभृत्युत्तमस्य, धर्मजं दिव्यं भवतीत्यर्थः ।

> एपा सङ्घ्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता । चतुर्गुणोत्तमानां तु,

इति तेनैवाभिधानात् । कार्षापणमूल्यं व्यावहारिकानिष्कस्या-शीतितमो भागो भवाति । छष्णस्रं तु व्यावहारिकनिष्कस्य विंशतितमो भागः। मुवर्णः पुनर्व्यावहारिकनिष्कचतुष्कं भवाते । एवं च मर्वदिव्यानां व्यावहारिकनिष्कतो व्यवस्थैवं वेदितव्या। चतुक्शतानिष्कप्रभृति विषै, विंशत्युंत्तरत्रिशतनिष्कप्रभृत्यायाः, च-त्वारिंशदुत्तरद्विशतनिष्कत्रभृति जलं, पृष्ट्युत्तर्शतनिष्कप्रभृति थटः । विंशत्युत्तरशतनिष्कप्रभृति महाभियोगविहितः कोशः। स एव कोशः अशीतिनिष्कप्रभृति वा चत्वारिंशन्निष्कप्रभृति वा चतुर्विशतिनिष्कप्रभृति वा भवति । पण्णिष्कप्रभृति तण्डुलाः । पञ्चनिष्कप्रभृत्युत्तमस्य धर्मजं दिव्यम्, त्रिनिष्कप्रभृत्यल्पाभि-योगविहितः को शः, किञ्चिद्नित्रिनिष्कप्रभृति पुष्पम् , सार्धदिनि-ष्कप्रभृति धर्मजं दिव्यं, मध्यमस्य द्विनिष्कप्रभृति देवताप्रतिमायाः पितुत्रीह्मणस्य पादस्पर्शनम् । सार्धनिष्कप्रभृति पुत्रदाराशिरः स्स्पर्शनम् । पाटाधिकनिष्कप्रभृति निकृष्टस्य मध्यमं दिव्यं, निष्कपभूतीष्टापूर्वादि युक्रतद्यनं, निष्कद्शमांशचतुष्ट्यप्रभृति छौ-किकाः रापथः निष्किर्विरातितमाराप्रभृति जातिरापथाः। तेषु दूर्बाकरत्वादिधर्माः यथाविष्णुवचनं बोद्धव्याः । सैपा व्यवस्था धर्मजेतरेषां धटादीनां न धनापहारविषये कल्पनीया । प्रकारान्त-रेण धनापहारविषये तेषां यतो व्यवस्थामाह बृहस्पतिः—

विषं सहस्रेऽपहृते पादोने च हुताशनः।

त्रिभागोने च सिललमर्थे देयो घटस्सदा॥

चतुश्कताभियोगे तु दांतव्यस्तप्तमाषकः।

त्रिश्चते तण्डुला देयाः कोशश्चेत्र तद्र्धके॥

शते हतेऽपहुते च दातव्यं धर्मशोधनम्।

गोचरस्य प्रदातव्यं सभ्यैः फालं प्रयत्नतः॥

एपा सङ्ख्या निकृष्टानां मध्यानां द्रिगुणा स्स्ता।

चतुर्गुणोत्तमानां तु कल्पनीया परीक्षकैः॥

इति । अत्र महाभियोगे नियतधटस्य पञ्चरातादिकार्षापणापहारे-ऽभिधानात्तदादिकार्षापणसम्बन्ध्यभियोगो महाभियोगस्तदादि-कोन्यूनकार्पापणसम्बन्धी त्वल्पाभियोग इसवगन्तव्यम् । अत एव संग्रहकारः—

> ऋणं वा यदि वा दण्डः प्रायश्चित्तमथापि वा । यत्र पञ्चशतादिः स्यात्तत्कार्यं गुरु कीर्त्यते ॥ यत्रारभ्य दशभ्यस्त्रेतान्या सैकचतुक्शतात् । कार्यं तछ्यु निार्देष्टं समृतितन्त्रविशारदेः ॥

इति । आ सैकचतुक्शनादापश्चशनादित्यर्थः । ऋणामाति विवादा-

स्पदं धनमनास्थयोक्तम् । अधनाभियोगमहत्त्वालपत्वे तत्र विहित-दण्डधनप्रायश्चित्तप्रयान्मानधनयोरन्यतरसङ्ख्यया प्रयेतव्ये इति तात्पर्यार्थः । यत्तु याज्ञवलक्येनोक्तं—

नासहस्राद्धरेत् फालं न विषं न तुलां तथा ।

इति, तच्चित्रादितो मध्यमपुरुषा ये भवन्ति तेषां मितपेधार्थम् ।
अधमानां सहस्रादर्वागपहारेऽपह्नवे वा महाभियोगाभावात् ।

एवंचोत्तमानां द्विसहस्रादर्वागल्पाभियोगत्वाद्धटादिमातिपेधोऽवगन्तव्यः । यत्पुनः पितामहेनोक्तम्—

सहस्रे तु घटं द्यात् सहस्राधं तथाऽऽयसम् ।
अर्धस्याधं तु सिललं तस्याधं तु विषं स्मृतम् ॥
इति, तत् पाग्टृष्ट्दोपपुरुषविषयम् । यदाह विष्णुः—
'प्राग्टृष्टदोपं स्वर्णेऽप्यथं दिच्यानामन्यतममेव कारयेत् ' इति ।
एवं चोत्तमस्यापि प्राग्ट्षण्टदोपस्य सहस्रे चतुर्गुणात् स्वर्णेऽथं धटो
भवतीति पितामहवचनस्य तात्पर्यार्थः प्रसेतव्यः । एवं नृपद्रोहेषु
महापातकाभियोगे च स्वर्णेऽप्यथं दिव्यानि भवन्तीत्याह
याज्ञवरुष्यः—

नृपार्थेप्वभिशापे च वहेयुद्दशुचयस्सदा । इति । विष्णुरापि---

'अथ समयिकया राजद्रोहे साहसेषु यथाकामम्' इति । समय-किया धटादादिव्यकरणम् । तथा च गोवलीवर्दन्यायेन धटादि-कमेवात्राह वृहस्पतिः— एते तु शपथाः मोक्ताः स्वल्पेऽर्थे सुकरास्तदा । साहसेष्वभिशापेषु दिन्यान्याहुर्विशोधनम् ॥

हित । एवंच साहसादौ ससादयः शपथाः कदाचिदापि न भव-न्तीति मन्तव्यम् । अपहारेऽपि व्यावहारिकनिष्कसङ्गचया व्य-वस्था व्याख्यास्यते—

उत्तमस्य पुरुषस्य पञ्चाशिक्षकप्रभृति विषम्, निष्कार्धाधिक-सप्तितित्विष्कप्रभृत्यियः, यवोनसप्तकृष्णलाधिकत्रयित्विश्विष्क-प्रभृति जलम्, पञ्चविंशित्रिष्कप्रभृति धटः, विंशितिनिष्कप्रभृति तप्तमाषः, पञ्चद्शनिष्कप्रभृति तण्डुलाः, निष्कार्धाधिकसप्तानि-ष्कप्रभृति कोशः, पञ्चनिष्कप्रभृति धर्मजं दिव्यम्, गोव्यक्तिच-तुष्ट्यप्रभृति फालम् ।

मध्यमस्य तु पुरुषस्य पञ्चविंशातिनिष्कप्रभृति विषम्,
सपादनिष्कोनविंशतिनिष्कप्रभृत्यग्निः, यवसाहितत्रयोदशकृष्णल्लाधिकपोडशनिष्कप्रभृति जल्लम्, निष्काधीधिकद्वादशनिष्कप्रभृति घटः, दश्चनिष्कप्रभृति तप्तमापः, निष्काधीधिकसप्तानिष्कप्रभृति तण्डुलाः,निष्कपादोनचतुर्निष्कप्रभृति कोशः, सार्धिद्विनिष्कप्रभृति धर्मजं दिव्यं, गोव्यक्तिद्वयप्रभृति काल्रम्।

निकृष्टस्य तु पुरुषस्य सार्धद्वादशनिष्कप्रभृति विषम्, सार्धसप्तकृष्णलाधिकनवातिनिष्कप्रभृयाग्नः, यवोनसप्तकृष्णला-धिकाष्टानिष्कप्रभृति जलं, सपादपाण्णिष्कप्रभृति धटः, पञ्चनिष्क- प्रभृति तप्तमापः, पादोनचतुर्निष्कप्रभृति तण्डुलाः, पादार्धोन द्विनिष्कप्रभृति कोशः, सपादानिष्कप्रभृति धर्मजं दिव्यम् , एक गोव्यक्तिप्रभृति फालम् ।

पाग्दृष्टदोपाणामुक्तावधिभयोऽल्पधनेऽपि तत्ताद्दिव्यंदेयम् ।
नृपद्रोहाभिशापसाहसेषु च तथैव देयम् । सत्यादिषुष्पादिशपथानां तु व्यवस्थाविशेषस्य अत्रादर्शनादपह्वव इव व्यवस्थाऽऽः
स्थेया,विष्णुवचने स्मृत्यन्तरवचनेचापह्रव इति विशेषस्मरणाचेति॥

इति स्मृतिचिन्द्रकायां धनपरिमाणतो दिव्यव्यवस्था.

अथ विवादिजात्यादितो व्यवस्था.

तत्र बृहस्पातः--

ऋणादिकेषु कार्येषु विसंवादे परस्परम् ।
द्रव्यसङ्ख्यान्विता देया पुरुषापेक्षया तथा ॥
पुरुषापेक्षया विवादिनोजीत्याद्यपेक्षयेत्यर्थः । तत्र जात्येपेक्षया
व्यवस्थामाह नारदः—

त्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्य हुताश्चनः। वैश्यस्य मलिलं देयं श्रूद्रस्य विषमेव तु॥ साधारणस्समस्तानां कोशः शोक्तो मनीपिभिः॥

इति । अनित्या चेयं व्यवस्था । यदाह कात्यायनः— सर्वेषु सर्वदिव्यं वा विषवर्ज द्विजोत्तमे ।

इति । लिङ्गसामर्थ्याभाववयोभ्योपि व्यवस्यामाह नारदः— क्वीवातुरान् सत्यहीनान् परितश्चार्दितान्नरान् । वालवृद्धस्रचन्ध्रकांश्च परीक्षेत घटे सदा ॥
नित्या वियं व्यवस्था, सदेत्यभिधानात्।धटग्रहणमग्न्यम्बुविषाणां
परिसङ्घानार्थ, न पुनः कोशादेरापे। यदाह स एव—
स्त्रीणां हु न विपं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम् ॥

धटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्त्वं विचारयेत् ॥ इति । धटकोशादिभिरिति वदन्नग्नेरिप प्रतिपेधं दर्शयति । दर्शिः तं च साक्षादिप तेन—

न मज्जनीयं स्तीवालं धर्मशास्त्रविचक्षणैः।
रोगिणो येच दृद्धाः स्युः पुमांसो ये च दुर्वलाः॥
साहसेऽप्यागतानेतान्नैव तोये निमज्जयेत्।
न चापि हारयेद्धिं न विषेण विशोधयेत्॥
इति। यत्पुनः पितामहेनोक्तं—

स्वतानां क्रशाङ्गानां वाल्यद्धतपस्थिनाम् ।
स्वीणां तु न भवेदिव्यं यदि धर्मस्त्ववेक्ष्यते ॥
इति, तद्ग्न्यम्बुविषयं, घटकोशादीनामिष प्रतिषेधे पूर्वोक्तवचनविरोधात् । एवंच क्वीवादीनामग्न्यम्बुविषवज्यीनि दिव्यानि
भवन्तीत्यनुसन्धेयम् । तथा लोहकारादीनामिष न सर्वाणि
दिव्यानि भवन्तीत्याह कात्यायनः—

न लोहाशिल्पिनामिशं सिल्लं नाम्बुसेविनाम्। मन्त्रयोगिवदां चैव विषं द्याच न कचित्॥ तण्डुलैने नियुक्षीत प्राणिनं मुखरोगिणम्॥

इति । पितामहोपि-

कुष्ठिनां वर्जयेदियं सिल्लं श्वासकासिनाम् । पित्तश्लेष्मवतां नित्यं विषं तु परिवर्जयेत् ॥ मद्यपस्तीव्यसिननां कितवानां तथैव च । कोशः पाइनें दातव्यो ये च नास्तिकदृत्तयः ॥

इति । नारदोापि-

महापराधे निधमें कृतन्ने इतिकुत्सिते । नास्तिके दृष्टदोषे च कोशदानं विवर्जयेत् ॥

महापराधे पूर्वसिद्धमहापराधशालिनीत्यर्थः । एवश्च क्रीवस्य अग्नचादिवत् कोशोपि वर्ष्य इत्यनुसन्धेयम् । यत्पुनः कात्यायने-नोक्तं—

मातापितृद्विजगुरुवालस्त्रीराजवातिनाम् ।
महापातकयुक्तानां नास्तिकानां विशेषतः ॥
लिङ्गिनां प्रशटानां तु मन्त्रयोगिक्रियाविदाम् ।
वर्णसङ्करजातानां पापाभ्यासप्तवर्तिनाम् ॥
एतेष्वेवाभियोगेषु निन्द्येष्वेव च यत्नतः ।
दिव्यं प्रकल्पयेक्षेव राजा धर्मपरायणः ॥

इति, तत्तेषां साक्षाद्दिच्यकर्तृत्विनिषेधार्थ, न पुनर्दिच्येन परी-क्षायाः । यतोऽनन्तरमेवोक्तं तेनैव—

एतेरेव नियुक्तानां साधूनां दिव्यमहीत । Smriti Cha.—Vol. III नेच्छन्ति साधवो यत्र तत्र शोध्यस्खर्केनरैः ॥

इति । दिव्यमईति राजा कल्पयितुमिति शेषः । तथाच स एव

एषु वादेषु दिव्यानि प्रतिषिद्धानि यत्नतः ।

कारयेत् खजनैस्तानि नाभिशप्तं त्यजेन्मनुः ॥

त्यजेत् उक्तमकारेण विशोधयेदिति शेषः । यत्पुनस्तेनोक्तं—
अस्पृश्यधनदासानां म्लेन्छानां पापकारिणाम् ।
पातिलोम्यप्रस्तानां निश्चयो न तु राजानि ॥
तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु निर्दिशेत् ।
इति, तत्तिनियुक्तस्यजनालाभविषयमित्यवगन्तव्यम् ।

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां विवादिजात्यादितो दिव्यव्यवस्था

अथर्तुतो दिन्यन्यवस्था

तत्र पितामहः--

धटस्सर्वर्तुकः शोक्तो वाते वाति विवर्जयेत्। अग्निविशाशिरहेमन्तवर्षामु परिकीर्तितः॥ शरद्भीष्मे तु सिछिछं हेमन्ते शिशिरे विषम्॥

इति । घटग्रहणं कोशस्वापि पदर्शनार्थम् । कोशस्तु सर्वदा देयः 'तुला स्वात्सार्वकालिको ' इति नारदस्मरणात् । कोशग्रहणं तण्डुलप्रभृतीनां पदर्शनार्थमित्युक्तं तद्वचाख्यातृभिः । तेनाग्रचम्बु- विपाणामेवर्तुतो व्यवस्था । अत एव तेपामेव ऋत्वन्तरप्रति-पेथस्तेन दर्शितः—

न शिते तोयसिद्धिस्त्यात् नोष्णकालेऽग्निशोधनम् ।
न पातृषि विषं द्यात्प्रवाते न तुलां तृषः ॥
इति । प्रवाते वातातिशय इयर्थः । विष्णुरिष—
'न कुष्ठचसमर्थलोहकाराणामग्निर्देयः, शरद्घीष्मयोश्च न कृष्ठिपैत्तिकब्राह्मणानां विषं देयं, प्रातृषि च न श्लेष्मन्याध्यर्दितानां
भीकृणां श्वासकासिनामम्बुजीविनां चोदकं, हेमन्तशिशिरयोश्च
न नास्तिकेभ्यः कोशो देयः व्याधिमरणोपस्पृष्टे च' इति । हेमन्तग्रहणं पुष्यमासस्य प्रतिपेधार्थे, न पुनर्मार्गशिष्चापि, तस्य शीतातिशयाभावेनोदकदिव्यविरोधित्वाभावात् । अत्र पितामहः—

चैत्रो मार्गिशिराश्चैव वैशाखश्च तथैव च ।
एते साधारणा मासा दिव्यानामविरोधिनः ॥
इति । अत एते मासास्सर्वदिव्यकाला भवन्तीसर्थः ।
इति स्मृतिचन्द्रिकायां ऋतुतो दिव्यव्यवस्थाः

अथ दिन्यदेशाः.

तत्र पितामहः —

पाङ्कुलो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे घटस्सदा । इन्द्रस्थाने सभायां वा राजद्वारे चतुष्पथे ॥ इन्द्रस्थानं प्रख्यातदेवतायतनम् । 'सभा राजकुलद्वारदेवायतन-चत्वरे' इति नारदस्मरणात् । अत्रव्यवस्थामाह कात्यायनः —

> इन्द्रस्थानेऽभिशस्तानां महापातिकनां तृणाम् । तृपद्रोहपरुचानां राजद्वारे प्रयोजयेत् ॥ प्रातिलोम्यपस्तानां दिन्यं देयं चतुष्पथे । अतोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्वधाः ॥

इति । दिव्यमिति सामान्येनाभिधानात् धटस्यैवयं देशव्यवस्था, कित्वनुक्तदेशविशेषाणामन्येपामपीसवगन्तव्यम् । विहितदेशाद्य-नादरे दिव्यप्रामाण्यहानिभैवतीत्याह स एव—

> अदेशकालदत्तानि वहिर्वासकृतानि च । व्यभिचारं सदाऽर्थेषु कुर्वन्तीह न संशयः ॥

वासः निवासः जनस्थानं, तस्माद्धाहः निर्जनमदेश इति या-वत् । अनेन जनसमक्षमेव दिन्यानि देयानीत्यर्थादुक्तम् । उक्तं च पितामहेन—

प्रसक्षं दापयेदिव्यं राजा वाऽधिकृतोपि वा । ब्राह्मणानां श्रुतवतां प्रकृतीनां तथैव च ॥ अधिकृतः प्राद्विवाकः।

इति स्मृतिचिनद्रकायां दिव्यदेशाः

अथ घटनिर्माणविधिः.

तत्र नारदः —

खादिरं कारयेत्तत्र निर्त्रणं शुक्रवर्जितम् । शिशुपां तदलाभे तु सालं वा कोटरेर्विना ॥ अञ्जनिस्तिन्दुकीसारं निषिशो रक्तचन्दनम् । एवंविधानि काष्टानि धटार्थं परिकल्पयेत् ॥

इति । एवंविधानीति वदन् पूर्वोक्तानामलाभे यित्रयं हक्षान्तर-मिप भवतीति दर्शयति । दर्शितं च पितामहेन—

> छित्वा तु यज्ञियं द्वश्नं विधिवन्मन्त्रपूर्वकम्। प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या मनीपिभिः॥ मन्त्रस्सौम्यो वानस्पत्यच्छेदने जप्य एव तु।

इति । सौम्यवानस्पत्ययोर्विकल्पः तुल्यकार्यत्वादिति कैश्चिदु-क्तम् । तुल्लाग्रहणं तत्पिरकरस्यापि पदर्शनार्थः, तेन पादस्त-म्भाद्यर्थमपि दृक्षच्छेद्नं कार्यम् । अत एव सपिरकरायास्तु-लायाः प्रमाणमुक्तं तेनैव—

चतुईस्ता तुला कार्या पादौ कार्यौ तथाविधौ । अन्तरं तुलयोईस्तौ भवेदध्यर्ध एव वा ॥ पादौ तुलाधारकाष्ठाधारार्थौ स्तम्भौ, तथाविधौ चतुईस्त-प्रमाणावित्यर्थः । एतच पादयोः प्रमाणं निखननीयहस्तद्वया-दुपरितनभागस्य वेदितव्यम् । अतो निखननीयभागेन सह षहुस्तौ भवतः । तथाच व्यासः — हस्तद्वयं निखेयं तु प्रोक्तं मुण्डकयोर्द्वयोः । षड्डस्तं तु तयोः त्रोक्तं प्रमाणं परिमाणतः ॥

अक्षस्य तु प्रमाणं पादयोरन्तराळाभिधानेनैवार्थसिद्धमिति न पृथगुक्तम् । तेन पादस्तम्भमस्तकदेशात् वहिरिनस्स्तो यथा-भवति तथा हस्तद्वयात् सार्धहस्ताद्वाऽभ्यधिकोक्षः कार्य इसवग-न्तव्यम् । हस्तः पुनश्चतुर्विशत्यङ्गळ इति स्मृत्यन्तरे दर्शितः—

> तिर्यग्यवोदराण्यष्टावृध्वी वा त्रीहयस्त्रयः । प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितिस्तिद्वीदशाङ्गुला ॥ इस्तो वितिस्तिद्वितयम्

इति । यावति तु स्थौल्ये कृते दार्क्य भवति तावत् स्थौल्यं तुलादीनां कार्यः, विशेषास्मृतेः । आचाराद्वा विशे-षस्स्थौल्ये वेदितव्यः । तुलायां त्वपरे विशेषाः पितामहेन दर्शिताः—

> चतुरश्रा तुला कार्या हढा ऋज्वी तथैव च । कटकानि च देयानि त्रिपु स्थानेपु यत्नतः ॥

कटकानि स्रोहवस्रयानि । त्रिषु स्थानेषु उपान्तयोर्मध्ये च । कटकानीस्योगयानामन्येपामप्युपलक्षणार्थं, तेनोपान्तयोरायः सकीलकौ शिक्यपाशधारणार्थाविषुवद्वक्राग्रो कर्कटकशृङ्गसंनिभौ देयौ । मध्ये त्वायसपाशोऽक्षकाष्टे तुलायोजनार्थो देयः । तथाच नारदः—

चतुरश्रा स्थितिस्थानैर्धटकर्कटकादिभिः।

इति । घटशब्देनात्र तुलामध्यसम्बन्धी पाशो लक्ष्यते । कर्कटकशब्देनात्र उपान्त्यकीलकौ सादृश्यादुच्येते । तेनायमर्थः—
अयोमयैः पाश्रप्रभृतिभिः स्थितिहेतुभिस्तुलायां भवितव्यभिति ।
आदिशब्देनाक्षमध्येऽप्येकेन कर्कटकेन भवितव्यभिति दर्शयति ।
तथा स्तम्भादिस्थापनप्रकारोपि तेन दार्शतः—

दक्षिणोत्तरसंस्थानावुभावेकाग्र (कत्र) संयतौ । अन्तौ कृत्वा समे देशे तयोस्संस्थापयेत्तुलाम् ॥

अस्यार्थः—

समायां भूमौ दक्षिणोत्तरभावेन स्थितयोः पादस्तम्भयोरुभावन्तौ एकत्र अक्षकाष्ठे संघाटेतौ कत्वा तयोः घटकाक्षकाष्ठमध्ये तुलां स्थापयेदिति । स्थापनं च तत्र कथं कार्यमित्यपेक्षिते स एवाह-

आयसेन तु पाशेन मध्ये संग्रह्य धर्मवित्। योजयेत्तु सुसंयुक्तां तुलां प्रागपरायताम् ॥ प्रागपरायतां पूर्वपश्चिमदोर्घामिसर्यः । प्रागप्रता च कार्येत्याह पितामहः—

प्राङ्क्ति । निश्चलः कार्यक्शुचौ देशे घटस्सदा । इति । निश्चलत्वसिध्यथमाह नारदः—

हस्तद्वयं निखेयं तु पादयोरुभयोस्तथा । इति । तथेति वदन् अन्यदिष किंचिद्धटाङ्गभूतं तोरणादिकं का-र्यमिति दर्शयित । दर्शितं च पितामहेन— तोरणे तु तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरिष ।
धटादुच्चतरे स्वातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ॥
अवलम्बो च कर्तव्यो तोरणाभ्यामधोष्ठस्तो ।
मृन्मयो सूत्रसम्बद्धो धटमस्तकचुम्बको ॥
धटं तु कारयेत्रिसं पताकाध्वजशोभितम् ।
विशालाम्रुन्छितां शुभां धटशालां तु कारयेत् ॥
यत्रस्थो नोपहन्येत बहिश्वण्डालवायसैः ।
तत्रैव लोकपालादीन् सर्वदिक्षु निवेशयेत् ॥
त्रिसन्ध्यं पूजयेचैनान् गन्धमाल्यानुलेपनैः ।
कवाटवीजसंयुक्तां परिचारकरिक्षताम् ॥
मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशून्यां कारयेत्रृपः ॥

इति । अत्र शालारचनादिकं घटधारणप्रयुक्तमेव नोत्पत्तिप्रयुक्त-मिति, धारणानिच्छायामननुष्टेयमेविति कैश्चिदुक्तम् ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां घटनिर्माणविधिः

अथ सर्वदिन्यसाधारणविधिः

तत्र बृहस्पतिः—

तत्र वृहस्पातः— स्नेहात्क्रोधाल्लोभतो वा भेदमायान्ति साक्षिणः । विधिदत्तस्य दिव्यस्य न भेदो जायते क्वचित् ॥ अतो दिव्यं विधिवद्देयमिसाभिमायः । विधिश्च पितामहेन दर्शितः— दिन्येषु सर्वकार्याणि पाडिवाकस्समाचरेत् । अध्वरेषु यथाऽध्वर्युस्सोपवासो नृपाज्ञया ॥ सर्वकार्याणि साधारणान्यसाधारणानि चेत्यर्थः । तत्र साधा रणानि तेनैव दर्शितानि—

तत आत्राहयेदेवान्विधिनाऽनेन धर्मवित् ।

इति । अनेन वक्ष्यमाणेनेसर्थः । तमेव विधि दर्शयति—

प्राद्धाः प्राञ्जल्पित्वा प्राद्धिवाकस्ततो वदेत् ।

एह्येदि भगवन् धर्म अस्मिन् दिन्ये समाविश ।

साहितो लोकपालैश्च वस्वादिसमरुद्रणैः ॥

इति । ततः दिव्योपकल्पनानन्तरामित्यर्थः । अस्मिन् दिव्य इति मन्त्रत्रिङ्गात् ,

आवाह्य तु घटे धर्म पश्चादङ्गानि विन्यसेत् ।

इति तेनैवाभिधानाच । धटग्रहणमुपकल्पितदिव्योपलक्षणार्थः,

सर्वदिव्येषु धर्मावाहनस्याङ्गविन्यासस्य च वक्ष्यमाणत्वात् ।

अङ्गानि विन्यसेदित्यस्यार्थः तेनैव द्शितः—

इन्द्रं पूर्वे तु संस्थाप्य पेतेशं दक्षिणे तथा।
वरुणं पश्चिमे भागे कुवेरं चोत्तरे तथा ॥
अग्रचादिलोकपालांश्च कोणभागेषु विन्यसेत् ।
इन्द्रः पीतो यमद्रद्यामो वरुणः स्फटिकप्रभः॥
कुवेरस्तु सुवर्णाभः ह्याग्नश्चापि सुवर्णभः।
तथैव निऋतिद्रद्यामो वायुर्धूम्रः पशस्यते॥

8 अष्टारा Cha.—Vol. III

ईशानस्तु भवेद्रक्त एवं ध्यायेत्क्रमादिमान् । इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे वस्नावाहयेद्वधः ॥ धरो ध्रुवस्तथा सोम आपश्रेवानिछोऽनछः। मत्यूपश्च मभासश्च वसवीऽष्टौ मकीर्तिताः ॥ देवेशेशानयार्मध्य आदिसानां तथाऽयनम् । धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽजुर्भगस्तथा ॥ इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमः समृतः। ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः॥ इत्येते द्वादशादित्या नामाभेः परिकीर्तिताः । अग्नेः पश्चिमभागे तु रुद्राणामयनं विदुः ॥ वीरभद्रश्र शम्भुश्र गिरिशश्च महायशाः। अजैकपादाहिर्वुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाछी च विशांपतिः। स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्त्वेकादश समृताः ॥ प्रेतेशरक्षीमध्ये च मातृस्थानं प्रकल्पयेत्। ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा !! वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डा गणसंयुता। निर्ऋतेरुत्तरे भागे गणेशायतनं विदुः ॥ वरुणस्योत्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । गगनस्पर्शनो वायुरनिलो मारुतस्तथा ॥

प्राणः प्राणेशजीवौ च मरुतोऽष्टौ पकीर्तिताः । धटस्योत्तरभागे तु दुर्गामावाहयेद्वुधः ॥

इति । अत्रापि पूर्ववद्धटग्रहणमुपकाल्पितादेव्योपलक्षणार्थम् । एवं यथास्थानमावाहितानां देवानां पूजनं कुर्यात् । तथाच स एव—

एतासां देवतानां तु स्वनाम्त्रा पूजनं विदुः। इति । तत्र च ऋममाह स एव---

> भूषावसानं धर्माय दत्वा चार्घ्यादिकं क्रमात् । अर्घ्यादि पश्चादङ्गानां भूषान्तमुषकरुपयेत् ॥

अङ्गीनां इन्द्रादिदुर्गान्तानामित्यर्थः । तेपामध्याद्युपकल्पनं पदा-थीनुसमयेन कार्यः, न काण्डानुसमयेनः, तथात्वे प्रयोगवचनावगत-सहत्ववाधापतेः । दुर्गायै भूषणं दत्वा धर्मस्येन्द्रादिदुर्गान्तानां च गन्धादिपरिचर्यां पूर्ववत्कुर्यात् । तथाच स एव—

गन्धादिकां निवेद्यान्तां परिचर्या प्रकल्पयेत् ।
इति । ततश्चतस्य दिक्ष चतुर्भिर्होमः कर्तव्यः । तथाच स एवचतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः ।
आज्येन हविपा चैव समिद्धिर्होमसाधनैः ॥
सावित्र्या प्रणवेनाथ स्वाहान्तेनैव होमयेत् ।

इति । छौकिकमिं चतुर्दिक्ष प्रतिष्ठाप्यैकैकस्यां दिश्येकैकः ऋत्विक् समिदाज्यचरून् प्रयेकमष्टोत्तरक्षतं तत्सवितुरिति मन्त्रेणोभयतः प्रणवेन स्वाहाकारान्तेन जुहुयादित्यर्थः । यद्य प्यत्र सङ्ख्या नोक्ता, तथाऽपि,-

अनुक्तसङ्ख्या यत्र स्याच्छतमष्टोत्तरं स्मृतम् । इति स्मृत्यन्तरात् सिद्धत्यवधेयम् । एतत्सर्वे पूर्वोक्के कर्तव्यं तस्य प्रधानकालत्वात् । तथाच नारदः —

अहोरात्रोषिते स्नाते आर्द्रवासिस मानवे । पूर्वा के सर्वादेव्यानां प्रदानमनुकीतितम् ॥ यतु याज्ञवल्क्येनोक्तं--

> सचेलस्नातमाह्य मूर्योदय उपोषितम् । कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपत्राह्मणसंनिधौ ॥

इति । तत्र स्योदयपदेन पूर्वीक्ष एव वचोभङ्गचा विहित इत्यव-गन्तव्यम् । पूर्वीक्षश्चादित्यवारान्वित एव ग्राह्यः, शिष्टाचार-बलात् । होमादनन्तरं पितामहः —

यं चार्थमभियुक्तस्त्वाछिखित्वा तं तु पत्रके ।

सन्त्रेणानन सहितं तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥

अनेन वक्ष्यमाणेने अर्थः । तमेव मन्त्रं द्र्शयति—

आदित्यचन्द्राविनिक्षोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृद्यं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्त्व्ये

धर्मश्च जानाति नरस्च वृत्तम् ॥

इति । अयं च निधः सर्वदिव्यसाधारण इत्याह स एव— इमं मन्त्रविधिं कृत्स्तं सर्वदिव्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव परिकीर्तितम् ॥ धर्मावाहनादि शोध्यशिरिस पत्रारोपणान्तं सर्वदिव्येषु कर्त-व्यमित्यर्यः । तथा सर्वदिव्येषु प्रयोगावसाने ऋत्विगादिभ्यो दक्षिणां तुष्टिकरीं दद्यात् ॥ तथाच स एव— ऋत्वित्रपुरोहिताचार्यान् दक्षिणाभिश्च तोपयेत् ॥ इतिं ॥ इति स्मृतिचान्दिकायां सर्वदिव्यसाधारणविधिः.

अथ धटारोपणविधिः.

तत्र नारदः---

शिक्यद्वयं समासज्य घटकर्कटयोर्दढम् ।
एकत्र शिक्ये पुरुषमन्यत्र तुलयेच्छिलाम् ॥
विधिविन्निर्मितघटकर्कटकद्वये शिक्यद्वयपाशौ समासज्येत्यर्थः ।
शिलाग्रहणं मृदादेरुपलक्षणार्थम् । अत एव पितामहः—

शिक्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरिष ।

पाग्रान् कल्पयेद्दर्भान् शिक्ययोरुभयोरिष ।।

पश्चिमे तोल्लयेत्कर्तॄनन्यस्मिन्मृत्तिकां शुभाम् ।

इष्टकाभस्मपापाणकपालास्थिविवर्जिताम् ॥

इति । इष्टकापापाणयोर्मृदा सह समुचयो निवार्यते, न तु विकल्पः,

तयोरिष विद्दितत्वात् । तथाच नारदः—

पिटकं पूरयेत्तिस्मिन्निष्टकाग्रावपांसुभिः।

इति । इष्टकाभिः ग्रावभिः पांसुभिर्वेत्यर्थः । मापैर्वा पिटकं पूर् येत्, 'मापराशिमथापि वा' इति समृस्नन्तरवचनात् । एवंच शिलामृत्तिकेष्टकाग्रावपांसुमापाणां प्रतिमानत्वे विकल्पो वेदित-व्यः । अत एव नारदेनोक्तं—

> मृत्पिण्डमभिशस्तं च तुलायां धारयेत्समम् । धारयेदुत्तरे पार्थे पुरुषं दक्षिणे शिलाम् ॥

इति । उत्तरे पार्श्व इसेतद्दक्षिणोदगायतत्वेन निर्मिततुलाविषयम्।
यद्यपि तथा निर्माणं पूर्वमनुपिद्षष्टं, तथाऽष्यस्मादेव वचनात्
पूर्वापरसंस्थानौ पादस्तम्भौ कृत्वोदगग्रा तुला कदाचित् का
र्येत्यर्थात्सिद्धमिति न कश्चिद्विरोधः । तुलां धारयेद्वणिगादीनामन्यतम इति शेषः । तथाच विष्णुः — "तां च वणिक्सुवणकारकांस्यकाराणामन्यतमो विभृयात्" इति । तां तुलामित्यर्थः । अन्यतमेन धृतायाः समतानिरीक्षणार्थं राज्ञा ते सर्वे
नियोक्तव्याः । तथाच पितामहः —

परीक्षका नियोक्तव्याः तुलामानविशारदाः । विणजो हेमकाराश्र कांस्यकारास्तथैव च ॥

नियुक्ताश्च समतां निरीक्षेरन् । तथाच नारदः —

सुवर्णकारा वणिजः कुशलाः कांस्यकारकाः। तां तुलामन्ववेक्षेरन् तुलाधारणकोविदाः॥ निरीक्षकान् प्रसाह पितामहः ---

कार्यः परीक्षकैनित्यमवलम्बसमो घटः। उदकं च प्रदातव्यं घटस्योपरि पण्डितैः॥ यस्मिन्न प्रवते तोयं स विज्ञेयः समो घटः॥

इति । तोरणयोर्छम्बमानौ मृण्मयाववलम्बौ तयोस्सम्बन्धः कट-कद्वयोपरिभागेन समो यस्य सोऽवलम्बसमो धटः। तथाच नारदः—

प्रथमारोहणे ग्राह्यं प्रमाणं निपुणैस्सह।
तुल्लाशिरोभ्यां तुल्यं तु तोरणन्यस्तलक्षणम् ॥
समताऽवधारणानन्तरं विष्णुः—" प्रतिमानपुरुषौ समधृतौ सुचिद्धितौ कृत्वा पुरुषमवतारयेत् " इति । सुचिद्धितौ समतादशायां येष्ववयवेषु शिक्यरज्जवस्संयुक्तास्तत्र तत्र पाण्डुरेखाङ्किताविसर्थः। अवतारणानन्तरं पितामहः—

तोस्रियित्वा नरं पूर्वे पश्चात्तमवतार्य तु । धटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ॥

इति । एवमुपकल्पनानन्तरं धर्मावाहनादि शोध्यक्षिरिस पत्रा-रोपणान्तं सर्वदिव्यसाधारणविधिं कुर्यात् । तथाच स एव—

इमं मन्त्रविधिं कृत्स्तं सर्वादेव्येषु योजयेत्। आवाहनं च देवानां तथैव परिकल्पयेत्॥ इति । तत्र धर्माराधनमाधनेषु विशेषमाह नारदः— रक्तेर्गन्धेश्च माल्येश्च द्ध्यपूपाक्षतादिभिः । अर्चयेतु घटं पूर्व ततिश्विष्टांस्तु पूजयेत् ॥ इति । घटं घटाधिष्ठितं धर्म, शिष्टान् इन्द्राद्शन् । शोध्यशिरिस पत्रारोपणानन्तरं पितामहः—

> घटमामन्त्रयेचैवं विधिनाऽनेन शास्त्रवित्। त्वं घट ब्रह्मणा सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् ॥ धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम्। धृतो भावयसे यस्माद्धटस्तेनाभिधीयसे ॥

इति । शास्त्रवित् भाड्विवाकः,

दिन्येषु सर्वकार्याणि पाड्विवाकस्समाचरेत् । इति तेनैवोक्तत्वात् । ततः शोध्योपि तं धटमामन्वयेत् । तथाच याज्ञवल्क्यः—

> तुलाधारणविद्वाद्विरभियुक्तस्तुलाश्रितः । मतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः ॥ त्वं तुले सत्यधामाऽसि पुरा देवैर्विनिर्मिता । तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय ॥ यद्यस्मि पापकृन्मातः ततो मां त्वमधो नय । शुद्धश्रेद्रमयोध्वं मां तुलामिसभिमन्त्रयेत् ॥

इति। त्वं तुले इत्यादिना ऊर्ध्वं मामित्यन्तेन मन्त्रेण पुनरारोपणात् माक्तलामभिमन्त्रयेत् शोध्य इसर्थः। ततस्तं प्राद्विवाकः पुनरारो-पयेत्।

तथाच नारदः--

समयैः परिगृह्याथ पुनरारोपयेन्नरम् । निवाते वृष्टिरहिते शिरस्यारोप्य पत्रकम् ॥

समयैः परिगृह्य तुलाधारकं शपथैनियम्येत्यर्थः । शपथाश्च तेनैव दर्शिताः—

ब्रह्मघो ये स्मृता लोका ये लोकाः क्टसाक्षिणः।
तुलाधारस्य ये लोकास्तुलां धारयतो मृषा ॥
इति । पुनरारोषणानन्तरं नारदः—

तिसमनेव कृते लक्ष्ये लक्ष्यं कृत्वा द्विजोत्तमः ।
धर्मपर्यायशब्देन घट इत्यिभिधीयसे ॥
त्वं वेत्सि सर्वभूतानां पापानि सुकृतानि च ।
त्वमेव देव जानीपे न विदुर्यानि मानवाः ॥
व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानवस्तोल्यते त्वया ।
तदेनं संशयारूढं धर्मतस्तातुमहिसि ॥
देवासुरमनुष्याणां सत्ये त्वमितिरिच्यसे ।
सत्यसन्धोसि भगवञ्छुभागुभविभावनैः ॥
आदिसचन्द्रावनिलोऽनलश्च ।
द्यौभूमिरापो हृद्यं यमश्च ॥
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये ।
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥

SMRITI CHA. - Vol. III

इति। शोध्यं शिक्ये यथासंनिवेशं निधाय धेमेत्यादि वृत्तमित्यन्तं पाड्विवाको वदेदित्यर्थः । मन्त्रोचारणानन्तरं पितामहः—

> ज्योतिर्वित् ब्राह्मणश्रेष्टः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाड्यः पञ्च विज्ञेयाः परीक्ष्याः कालकोविदैः ॥ साक्षिणो ब्राह्मणश्रेष्टाः यथादृष्टार्थवादिनः । ज्ञानिनः शुचयोऽलुब्धाः नियोक्तव्याः नृषेण तु ॥ तेषां वचनतो गम्यदृशुद्धचशुद्धिविनिर्णयः ॥

इति । त्रिशतगुर्वेक्षरोचारणकालः पञ्चविनाड्यात्मको भवति । तथाच स्मृत्यन्तरं—

दशगुर्वक्षरः प्राणः पट्पाणस्त्याद्विनाहिका ।
इति । एतंच ज्योतिर्विद्वाह्मणो गुर्वक्षरोच्चारणेन पञ्चविनाङ्यात्मककालमानं कुर्यात् । शोध्यस्तावत्कालं तुलामारुह्यासीत ।
तिस्मिन् काले जयपराजयलक्षणैदशुद्धचशुद्धिविनिर्णयं नियुक्ता
स्साक्षिणः कुर्युरिति पूर्वोक्तवचनानामर्थः प्रत्येतव्यः । कानि
पुनर्जयपराजयलक्षणानीत्यपेक्षिते नारदः—

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धस्त्यात्र संशयः। समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेत्ररः॥

यत्पुनः पितामहेनोक्तं—

हीयमानो न शुद्धः स्वादेकेपां तु समोऽश्रुचिः । अल्पपापस्समो ज्ञेयो वहुपापस्तु हीयते ॥ इति । तंत्रैकेपामिति पूजनार्थ, न तु स्वमते समस्थशुद्धित्वद्योत नार्थम् । अल्पपापिनोप्यशुचित्वात् । तेन हीयमानसमयोः पराज्ये न कश्चिद्विशेषः । दण्डे प्रायश्चित्ते च परं विशेषः, दण्ड-प्रायश्चित्तयोदींपानुसारित्वात् । यत्तूक्तं वृहस्पतिना—

धटेडिभयुक्तस्तुलितो हीनश्रेद्धानिमाप्नुयात् । तत्समस्तु पुनस्तोल्यो वर्धितो विजयी भवेत् ॥

इति । तस्यायमर्थः—समस्याशुचित्वानिश्चयो न प्रथमतोलनपर्याये कार्यः, किंतु पुनस्तोल्यमानस्य तु यदि समतेव भवति तदानीमशुद्धिरवधारणीयेति । एवं शिक्यंच्छेदादाविष पुनस्तोल्यमानस्य शुद्धिरशुद्धिवीऽवधारणीया । तथाच कात्यायनः—

शिक्यच्छेदे तुलाभक्के तथाऽपि तु गुणस्य वा । शुद्धेस्तु संशये चैव परीक्षेत पुनर्नरम् ॥

शुद्धेस्तु संशयो नारदेन प्रपश्चितः-

तुछाशिरोभ्यामुद्धान्तं विज्ञछं न्यस्तलक्षणम् । यदा वायुपपन्नोऽसौ गच्छत्यूर्ध्वमधोपि वा ॥ निर्मुक्तस्सहसा वाऽपि तदा नैकतरं ब्रजेत् ॥

इति । अयमर्थः — यदा तुलान्तौ तिर्यक् प्रचलितौ, यदा च समताज्ञानार्थन्यस्तमुदकादि चलितं, यदा च वायुना-प्रेरिता तुला ऊर्ध्वमध्य कम्पने, यदा च तुला धारकेण हस्तात्त्रमुच्यते तदा जयं पराजयं वा न निश्चिनुयादिति । यत्पुनस्तेनोक्तं—

कक्ष्यच्छेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा ।

रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च मूर्छितः शुद्धिमाप्नुयात् ॥

इति, तदपरिदृश्यमानकारणकशिक्यच्छेदादिविषयं, दैविकस्यैव
शिक्यच्छेदादेः शुद्धिकाणत्वात् । तत्र पितामहः—

शंसन्ति साक्षिणस्सर्वे शुष्यशुद्धी नृषे तथा ।

सद्भिः परिषृतो राजा शुद्धमाहूय पूजयेत् ॥

ऋत्विकपुरोहिताचार्यान् दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ।

एवं कारियता राजा भुक्ता भोगान् मनोरमान् ॥ महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ इति.

इति स्मृतिचान्द्रिकायां घटारोपणविधिः

अथााग्नीवाधिः.

तत्र पितामहः--

अग्नेर्विधि प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचोदितम् । कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा ॥ प्रख्यातदेवतायतनादिविहितदेशे भूशुद्धिमुद्धननावोक्षणाभ्यां कृत्वा तत्र नव मण्डलानि प्रागपवर्गाणि प्राड्विवाकः सोपवासो नृपाज्ञया प्रदृत्तः कुर्यादित्यर्थः । तानि च गोमयेन कार्याणि— गोमयेन कृतानि स्युरद्भिः पर्युक्षितानि च !! इति तेनैव स्मृतत्वात् । तेषामन्तराळपरिमाणे उभे आपि याज्ञ-वल्क्येन दर्शिते—

पोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम् । इति । मण्डलानि तेपामन्तरालानि च प्रसेकं पोडशाङ्गुलपरिमा-णानि कार्याणीत्यर्थः । मण्डलदेवतास्तु पितामहेन दर्शिताः—

आग्नेयं मण्डलं त्वाद्यं द्वितीयं वारुणं स्मृतम् ।
तृतीयं वायुदेवसं चतुर्थं यमदेवतम् ।।
पञ्चमं त्विन्द्वदेवत्यं पष्टं कावेरमुच्यते ।
सप्तमं सोमदेवसं सावित्रं त्वष्टमं तथा ॥
नवमं सर्वदेवसमिति दिन्थाविदो विदुः ।

इति । आग्नरत्र पूज्यत इसाग्नेयम्, हिविष्ट्रेन स्कत्वेन वा मण्डल स्याग्नेयत्वासम्भवात् । एवं वारुणत्वादिकमपि मण्डलस्य पूजा धिकरणत्या द्रष्ट्रव्यम् । तेन 'प्रेतु होतुश्रमसः' इत्यादिप्रेपमन्त्र-स्थया होतुश्रमस इत्यादिसमाख्यया होत्रादीनां तत्र चमसभक्ष माप्तिवदाग्नेयादिसमाख्ययवाग्नचादीनां तत्र तत्र मण्डले पूजनं कार्यामित्यस्मादेव वचनात् प्रासिद्धम् । अतो मण्डलानां प्रोक्षणा-नन्तरं मण्डलाधिदेवतापूजनं कुर्यात् । ततः प्रातिमण्डलं प्राग्नान् कुशान् क्षिपेत्-

मण्डले मण्डले देयाः कुशाइशास्त्रपचोदिताः।

इति तेनैव स्मृतत्वात् । ततः प्रथममण्डलाद्दक्षिणतोऽनतिदूरे लौकिकप्रिं प्रतिष्ठाप्य शान्तिहोमं कुर्यात् ।

शान्त्यर्थं जुहुयादग्नौ वृतमष्टोत्तरं शतम् । इति स्मरणात् । होमश्च 'अन्नये पावकाय स्वाहा ' इत्यनेन मन्त्रेण कार्य इत्युक्तं व्माख्यातृभिः । ततस्तस्मिन् अग्नौ लोहिपिण्डं तापयेत् । तथाच पितामहः—

अश्रिहीनं समं कृत्वा अष्टाङ्गुलमयोमयम् ।

पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाश्चत्पलकं समम् ॥

समं अनिम्नोन्नतम् । पुनस्समग्रहणं समन्तात्तापयेदिति विधान्तार्थम् । पोडशपलकं वा पिण्डं तापयेत् । "अथ सप्ताश्वत्थपणीन्तरितं पोडशपलमाग्निवर्णं लोहपिण्डमञ्जलिनाऽऽदाय

सप्तमर्यादां गच्छेत्" इति शङ्खालिखितस्मरणात्। तापनं तु लोहकारेण कार्यमित्याह नारदः—

जात्यैव लोहकारो यः कुशलश्चाग्निकर्माण । दृष्टप्रयोगश्चान्यत्र तेनायोऽग्नौ तु तापयेत् ॥

दृष्टित्रयोगश्चान्यत्रेत्यनेन यथा लोके लोहशुद्धचर्य सुत्रप्तं लोहमुद-के निक्षिप्य पुनस्सन्ताप्योदके निक्षिप्य पुनस्सन्तापनं लोहे-कार्यसिद्धचर्य कियते तथाऽत्रापि कर्तव्यिमिति दर्शितम् । तत्र तृतीयतापे वर्तमाने धमावाहनादि शोध्यशिरसि पत्रारोपणान्तं सर्वदिव्यसाधारणविधिं कुर्यात् । तथाच पितामहः —

इमं मन्त्रविधिं कत्स्त्रं सर्वदिव्येषु योजयेत् ।

आवाहनं च देवानां तथैव परिकल्पयेत् ॥
इति । तत्र धर्माराधनसाधनेषु विशेषमाह स एव—
तत्र पूजां हुताशस्य कारयेन्मनुजाधिषः ।
रक्तचन्दनधूषाभ्यां रक्तपुष्पैस्तथैव च ॥

इति । हुताशस्य लोहपिण्डाग्नावावाहितस्य धर्मस्येति यावत् । रक्तचन्दनं च धूपश्च रक्तचन्दनभूपौ, ताभ्याम् । इन्द्राद्याराधन-साधनेषु नायं नियमः, हुताशस्यिति विशेषितत्वात् । शिरस्या रोपिते प्रतिज्ञापत्रे सत्यनन्तरं शोध्यस्य कर्तव्यमाह हारीतः—

पाङ्मुखस्तु ततिस्तिष्ठेत् प्रसारितंकराङ्गुलिः। आईवासादश्चिचेश्चेव शिरस्यारोप्य पत्रकम्॥ स्थितिश्चाद्यमण्डले कर्तव्या।

पिश्चमे मण्डले तिष्ठेत् प्राङ्मुखः प्राञ्जलिङ्शुचिः ॥ इति पितामहस्मरणात् । कोध्यस्य प्राङ्विवाकस्य च कर्तव्यमाह विष्णुः—

करौ विमृदितबीही तस्यादावेव लक्षयेत् ।

इति । विमृदिता ब्रीहयो याभ्यां तौ विमृदितबीही । अनेन

कराभ्यां ब्रीहिमर्दनं कृत्वा शोध्यः प्रसारितकराङ्गुलिस्स्या
दिसर्थादुक्तम् । लक्षयेदित्यस्यार्थो नारदेन प्रपश्चितः —

लक्षयेतस्य चिद्वानि हस्तयोरुभयोरपि ।

पाकृतानि च गृढानि सब्रणान्यव्रणानि च ॥

अग्निधारणात् प्राक्तनान्येतानीति ज्ञापनार्थे तस्य शोध्यस्य करद्वयस्थितव्रणादिस्थानेषु अलक्तकादिरसेन हंसपदानि कुर्या- दिसर्थः । तथाच स एव—

हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धंसपदानि तु । इति । ततः कर्तव्यमाह याज्ञवल्क्यः— करौ विमृद्दितत्रीही लक्षायित्वा ततो न्यसेत् । सप्ताश्वत्थस्य पर्णानि तावतसूत्रेण वेष्टयेत् ॥

विष्णुरिष—"ततः प्राङ्कुष्वस्य प्रसारितभुजद्वयस्य सप्ताश्वत्थ-स्य पत्राणि करयोर्दद्यात्, तानि च करद्वयसहितानि सूत्रे-ण वेष्ट्येत्" इति । उभयत्रापि ततश्चब्देनेदं ज्ञायते—हस्ताङ्क-नपत्रन्यसनयोर्भध्ये यत्स्मृयन्तरोक्तं होमादि तद्स्मिन् मते न कर्तव्यमिति । एवंच यदुक्तं नारदेन—

> कृत्वैवमभिशस्तस्य प्रथमं हस्तलक्षणम् । शान्त्यर्थे जुहुयान्मन्त्रैष्ट्रितेनाग्नौ यथाविषि ॥ तिपतेष्वथ देवेषु लोकपालेषु चैव हि । आदित्याभिमुखो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥ त्वमत्रे सर्वभूतानामन्तश्चरिस साक्षिवत् । हव्यं वहसि देवानां हुतः शान्ति प्रयच्छिसि ॥ प्रच्छन्नानि मनुष्याणां पापानि सुकृतानि च । त्वमेव देव जानीषे न विदुर्यानि मानवाः॥ व्यवहाराभिशस्तोऽहं वहे तिष्टामि संशये ।

तस्मान्मां संशयारूढं धर्मतस्त्रातुमहीस ॥
एवमुक्तवतस्तस्य माङ्कुखस्य तु धीमतः ।
पत्रैरञ्जालिमापूर्य आखत्थस्यस्तिभस्तमेः ॥

इति । मन्तैः 'आकृष्णेन' इत्यादिभिः नवभिः ग्रहप्रकाशकैः । देवे पु वस्यादिसरुद्रेषु लोकपालेषु च तत्तन्नाम्ना हुतघृताद्याहुतिभि स्तिष्तेषु सित्स्वत्यर्थः । तदेतत्सर्व वैकल्पिकमिति मन्तव्यम् । यत्तु पत्रविशेषणम्रक्तं समारिति तन्नित्यं, तेन पक्षद्वयेऽपि समपरि-माणैः पत्रैभिवितव्यम् । तथा वेष्टनसूत्रेष्विपि विशेषस्तेन दार्शतः-

वेष्ट्यीत सितैर्हस्तौ सप्तभिससूत्रतन्तुभिः।

इति । सितैः श्वेतैरित्यर्थः । यतु समृयन्तरं—
अयस्तनं तु पाणिभ्यामर्कपत्रैस्तु सप्तभिः ।
अन्तर्हितं हरन् शुद्धस्त्वदग्धस्सप्तमे पदे ॥

इति, तदश्वत्थपत्रालाभविषयम् । यदाह पितामहः— पिष्पलाज्जायते विहः पिष्पलो वृक्षराट् स्मृतः । अतस्तस्य तु पत्राणि हस्तयोर्निक्षिपेहुधः ॥

इति । यसात् प्रशस्तोऽश्वत्थः तस्मात्पत्राण्येव सति सम्भवे प्राह्माणित्यर्थः । शमीपत्रादीनि पुनः पूर्वोक्तपत्रैस्सह समुची-यन्ते । तथाच समुखन्तरं—

सप्त पिष्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथापि वा ।
द्वीयास्सप्त पत्राणि दद्यात्तांश्वाक्षतात्रचसेत् ॥
SMRITI CHA VOL—III.

तथा कुसुमानि च न्यसेत्—

सप्त पिष्पलपत्राणि अक्षतान् सुमनोद्धि।

इति पितामहस्मरणात् । सुमनसः कुसुमानि । ततस्तप्तछोहपिण्डे प्राड्विवाकः 'त्वमन्ने देवाः' इत्यादिना 'महानल' इत्यन्तेन
मन्त्रेण लोहपिण्डस्थमन्निमभिमन्त्रयेत् ।
तथाच पितामहः—

ताापेते तु ततः पश्चात् अग्निमावाहयेच्छुचिः।
आवाहनं तु देवानां कृत्वा पूर्वविधानवित् ॥
त्वमन्ने देवाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे ।
त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम् ॥
जटरस्थो हि भूतनां ततो वेत्सि शुभाशुभम् ।
पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक उच्यसे ॥
पापेषु दर्शयात्मानमार्चिष्मान् भव पावक ।
अथवा शुद्धभावेषु शीतो भव महानल् ॥

इति । देवानां धर्माद्गिनामावाहनग्रहणमावाहनादेवशोध्यकरसं-स्कारकुसुमानिधानान्तस्य कर्मण उपलक्षणार्थम् । विष्णुस्तु लो-हपिण्डस्थाप्रचाभिमन्त्रणे मन्त्रान्तरमाह—

> त्वमये सर्वभूतानामन्तश्चरिस साक्षिवत् । त्वमेवाये विजानीपे न विदुर्यानि मानुपाः ॥ व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुपश्चिद्धिमिच्छति ।

तदेनं संशयादस्माद्धमितस्तातुमहिस ॥
समुचयेनास्य मन्त्रस्य अभिमन्त्रणसाधनत्वं न पुनर्विकल्पेन, प्रार्थनीयार्थस्य शोध्यव्यक्तिविशेषिनप्रतया प्रकाशकत्वेन भिनकार्यत्वात् । यत्तु—

तृतीयतांपे संतप्तं ब्र्यात् सभ्यपुरस्कृतम् ।
गृण्विमं मानवं धर्मं लोकपालैरधिष्ठितम् ॥
त्वमये सर्वदेवानां पवित्रं परमं मुखम् ।
त्वमेव सर्वभूतनां हृदिस्थो वेत्सि चेष्टितम् ॥
सत्यानृते च जिह्वा वा त्वत्तस्समुपलभ्यते ।
देवादिभिरिदं शोक्तं नान्यथा कर्तुमर्हसि ॥
अनेनासाविदं शोक्तो मिथ्यावादमसौ वदेत् ।
सर्वथा च यथा मिथ्या तथाऽप्तिं धारयाम्यहम् ॥
स एष त्वां धारयति सत्येनानेन मानवैंः ॥
सत्यवाक्यस्य चास्य त्वं शितो भव हुताशन ।
मृषावाक्यस्य पापस्य दह हस्तौ च पापिनः ॥

इति । यतु नारदोक्तमग्रचभिमन्त्रणं तत् विष्णुपितामहोक्तेनाग्रच-भिमन्त्रणेन विकल्प्यते, एकार्थत्वात् । यदा नारदोक्ताग्रचभि-मन्त्रणं क्रियते तदाऽभिमन्त्रणानन्तरं कर्तव्यमाह स एव—

अपुमर्थं च पत्रस्थमभियुक्तं यथार्थतः । संश्राच्य मूर्धि तस्चैव न्यस्च देयो यथाक्रियम् ॥ पूर्वोक्ताभिमन्त्रणमन्तार्थं शिरसि निहितपत्रस्थमन्तार्थं च संश्राच्य

नारदः-

तत्पत्रं यथास्थानं निधाय छोहपिण्डो देय इसर्थः।यदा तु विष्णु-पितामहोक्तायचभिमन्वणं कियते तदा तस्मित् कृते कर्तव्यमाह पितामहः—

ततस्तं समुपादाय राजा धर्मपरायणः ।
संदंशेन नियुक्तो वा हस्तयोस्तस्य निक्षिपेत् ॥
संदंशेन तं छोहपिण्डं समुपादायेसन्वयः । नियुक्तः पाड्विवाकः ।
निक्षेपणात् प्राक् शोध्यस्य पश्चद्वयेऽपि कर्तव्यमाह याज्ञवल्क्यः-

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरिस पावक ।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रीह सत्यं कवे मम ॥
तस्येत्युक्तवतो छोहं पश्चाशत्पाछिकं समम् ।
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरिप ॥

इत्युक्तवतः पूर्वोक्ताग्नचभिमन्त्रणं कृतवतस्तस्य शोध्यस्येत्यर्थः । न्यस्ते लोहपिण्डे शोध्यस्य कर्तव्यमाह स एव—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्वजेत् ॥ इति । अस्यार्थो विष्णुना विष्टतः— "तमादाय नातिद्रुतं न च विल्लिम्वतं मण्डलेपु पदन्यासं क्रुवेन् व्रजेत्" इति । मण्डलेषु द्वितीयादिष्वष्टमान्तेष्वित्यर्थः । तथा च

> हस्ताभ्यां तं समादाय पाडिवाकसमीरितः। स्थित्वैकस्मिस्ततोऽन्यानि व्रजेत्सप्त त्वजिह्मगः॥ असंभ्रान्तः शनैर्गच्छेत् अकुद्धस्सोऽनलं प्रति।

न पातयेत्तामप्राप्य या भूमिः परिकल्पिता ॥
न मण्डलमितक्रामेन्न चार्वाक् स्थापयेत्पद्म् ।
मण्डलं चाष्टमं गत्वा ततोत्रिं विस्रजेन्नरः ॥
इति । एकस्मिन् आद्ये मण्डल इसर्थः । ततोऽन्यानि द्वितीयाः
दीनि । अग्निविसर्जनं च नवमे मण्डले कर्तव्यं,

अष्टमं मण्डलं गत्वा नवमे निक्षिपेह्वघः । इति पितामहस्मरणात् । निक्षेपानन्तरं परीक्षकस्य कर्तव्यमाह नारदः—

तस्यैव मुक्तिपिण्डस्य कुर्यात्करानिर्शक्षणम्।
इति । शुद्धचशुद्धिपीरज्ञानार्थमिति शेपः। तत्राशुद्धिपत्यायकानि
लक्षणान्याह सं एव---

पूर्वदृष्टेषु चिह्नेषु ततोऽन्यत्रापि लक्षयेत् । मण्डलं रक्तसङ्काशं यत्रान्यचाग्निसम्भवम् ॥ सोऽविशुद्धस्तु विज्ञेयोऽसस्यधर्मव्यवस्थितः।

इति । यस्य करतलद्वयमध्ये यत्रकृत्रचिदाहारितं स्फोटकाद्युप-लभ्यते तमशुद्धं विजानीयादिसर्थः । यस्य पुनर्नोपलभ्यते स शुद्धो विज्ञेयः । तथाच विष्णुः—

यो हस्तयोः कचिद्दग्धस्तमशुद्धं विनिर्दिशेत् । न दग्धस्सर्वथा यस्तु स विशुद्धो भवेन्नरः ॥ यदा तु दग्धादग्धसन्देहः तदाऽऽह नारदः — ज्ञानेन न विभागश्चेदग्धाविति करौ तदा । त्रीहीनतिप्रयतेन सप्तवारांस्तु दापयेत् ॥ मर्दितो यदि नो दग्धः सभ्यैस्त्रेवं विनिश्चितम् । मोच्यञ्शुद्धस्तु सत्क्य दग्धो दण्ड्यो यथाक्रमम् ॥

इति । पितामहोपि-

हते च मर्दयेत्पश्चात् त्रीहीन्त्रा यदि वा यवान्। निर्विकारे दिनस्यान्ते शुद्धं तिमिति निर्दिशेत्॥

इति । निर्विकारे करद्रये स्थिते शुद्धामिति तं निर्दिशेदित्यर्थः । केचित्—'निर्विकारौ यदा हस्तौ ' इति पठन्ति । तन्मते हरणा-नन्तरमेव मर्दनेन शुद्धिरवधारणीया । ननु 'दिनस्थान्ते शुद्धं तिमिति निर्दिशेत् ' इति पाठे,

मुक्ताऽप्तिं मृदितत्रीहिरदग्धः शुद्धिमानुयात् । इति याज्ञवल्क्यवचनविरोधस्त्यात् । मैवं वोचः, 'प्रहृत्य परि-धीन् जुहेति' इतिवदानन्तर्याभावेऽपि क्वानिर्देशोपपत्तेः । यत्पुनस्तेनोक्तं--

अन्तरा पितते पिण्डे सन्देहे वा पुनईरेत्।
इति, तत् व्रीहिमर्दने कृतेऽपि यत्र सन्देहो नापैति तद्विषयम्,
किं ससानृतवशाददाहदाहो उत दृष्ट्यवधानादिकारणवशादिति यत्र सन्देहस्तद्विपयं च। 'अन्तरा पितते पिण्डे ' इत्यत्र
दग्धश्च नोपलभ्यते इति शेपोऽवगन्तच्यः। दग्धस्योपलम्भे त्वशुद्धिनिश्चयेन पुनईरणानवकाशात्। अत एव नारदः——

यस्त्वन्तरा पातयित द्ग्धश्च न विभाव्यते ।

पुनस्तं हारयेद्पिं स्थितिरेपा हढीकृता ॥

दग्धश्च न विभाव्यते करतल्ळद्याभ्यन्तरे इति शेषः । अन्यत्र

दग्धविभावनेऽपि पुनर्हारयेदेव । तथा च कात्यायनः—

प्रस्वलसभियुक्तश्चेत् स्थानादन्यत्र दह्यते ।

अदग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूयोपि दापयेत् ॥

भूयोपि पुनर्पात्यर्थः । अत्र नारदः—

अनेन विधिना कार्यो हुताशसमयस्सदा ।

ऋते ग्रीष्मादसावुक्तः कालेऽन्यस्मिस्तु शीतले ॥ इति ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां अग्निविधिः

अथ जल्लविषयोहत्सन्नानुष्ठानत्वात्तद्विधिमनाख्याय कोशविधिरुच्यतेः

तत्र याज्ञवल्क्यः---

देवानुग्रान् समभ्यच्ये तत्स्नानोदकमाहरेत्।
इति । उग्रा देवा रुद्रदुर्गादित्यादयः । तेपामन्यतमं देवं प्राड्विवाकः
कृतोपवासो गन्धपुष्पादि।भिस्संपूज्य स्नापायित्वा तत्स्नानोदकं
दिव्यदेशं नयेदित्यर्थः । नरं तत्र निधाय धर्मावाहनादि शोध्यशिरसि पत्रारोपणान्तं सर्वदिव्यसाधारणविधि विधाय शोध्यं
च प्राञ्चलं कृत्वा पूर्वनिहितोदकात् प्रसृतित्रयं पाययेत् । प्रसृति-

त्रयमण्डलं च तास्मिन्नेव काले गोमयेन कार्यीमिति व्या<mark>ख्यातृभि-</mark> रुक्तम् । आदिसाभिम्रुखं कृत्वा संश्राव्य पाययेत् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

संश्राच्य पाययेत् पश्चात् जलातु प्रसृतित्रयम् ॥ इति । किं संश्राच्येयपोक्षिते नारदः— एनश्र श्रावियत्वा तु पाययेत प्रसृतित्रयम् ।

इति । एनः पापं तच्च तत्फलाभिधानमुखेन तेनैव दार्शितम्—
स्वेच्छया यः पिवेत् कोशं कश्चिचेद्द्षितो नरः ।
विसंवदेन्नरो लोभात् छली भवति दुर्मतिः ॥
आत्मनः कामकारेण कोशं पीत्वा विसंवदेत् ।
दिरद्रो व्याधितो मूर्खः सप्तजन्मिन जायते ॥
वलात्कोशं हि यो दत्वा हितमिच्छेन्न चात्मनः ।
स विनाशी भवेत्तस्य तच्च कार्यं न सिघ्यति ॥

इति । अत्रान्सक्ष्ठोकमिभयोक्ता श्रावियतव्यः सामध्यात् । शो ध्यस्तु श्रावितं श्रुत्वेदं मया न कृतिमिति वदन् पिकेत् । तथाच विष्णुः—"उग्रान् देवानभ्यच्यं तःस्त्रानोदकात् प्रस्तित्रयं पिवे दिदं मत्या न कृतिमिति व्याहरन् देवताभिमुखः" इति । एवं यस्य कस्यचिदुग्रदेवस्य स्त्रानोदकमाहृत्य कोशानुष्ठाने प्राप्ते नियमार्थमाह पितामहः—

> भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तज्जलम् । समभावे तु देवानामादित्यस्य तु पाययेत्॥

दुर्गायाः पाययेचोरान् ये च शस्त्रोपजीविनः । भास्करस्य तु यत्तोयं त्राह्मणं तन्न पायेयत्॥

इति । तथा स्नापनीयपेदशिनयममाह स एव— दुर्गायाः स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु मण्डलम् । अन्येपामपि देवानां स्नापयेदायुधानि तु ॥

इति । प्रसृतित्रयपानादनन्तरं कात्यायनः— अथ दैवविसंवादः त्रिसप्ताहातु दापयेत् । अभियुक्तं प्रसन्नेन तमर्थे दण्डमेव च ॥

दैविवसंवादो दैविकव्याधीनामाविर्भावः । दैविकाश्च व्याधयस्ते-नैव दर्शिताः—

> क्षयातिसाराविस्फोटास्ताल्वास्थिपरिपीडनम् । नेत्ररुगळरोगश्च तथोन्मादः प्रजायते ॥ शिरोरुक् भुजभङ्गश्च दैविका व्याधयो नृणाम् ।

इति । अन्यान्यपि पराजयनिामित्तानि विष्णुना दर्शितानि यस्य पश्चेद्विसप्ताहात्त्रिसप्ताहादथापि वा । रोगोऽप्रिक्षीतिमरणं राजदण्डमथापि वा ॥ तमशुद्धं विजानीयात्तथा शुद्धं विषर्यये ।

इति । नारदेनार्थभ्रंशादयोगि पराजये उक्ताः— सप्ताहाभ्यन्तरे यस्य द्विसप्ताहेन वा पुनः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमर्थभ्रंशो धनक्षयः ॥ प्रत्यात्मिकं भवेद्यस्य विद्यात्तस्य पराजयम् ॥
इति । प्रत्यात्मिकं न समुदायप्रयुक्तम् । अर्थोऽत्र पुत्रादिरभिष्ठेतः, अन्यथा धनशब्दवैयध्यीत् । अत एव वृहस्पतिः —
सप्ताहाद्वा द्विसप्ताहाद्यस्यातिने प्रजायते ।
पुत्रदारधनानां च स शुद्धस्त्यात्र संशयः ॥

पितामहेनावध्यन्तरमप्युक्तं--

त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्या दिसप्ताहादथापि वा । वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स तु मानवः॥

यस्य शोध्यस्येत्यर्थः। न केवलं शोध्यस्य विकृतत्वापत्तौ पाप-कृत्वं, अपि तु स्वकीयजनस्य विकृतत्वापत्तावपीत्याह स एव—

> तस्यैकस्य न सर्वस्य जनस्य यदि तद्भवेत् । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं सैन तस्य विभावना ॥

तद्रोगादिवेक्वतं कृतकोशपानस्यैकस्य यदि भवेत्तदेव पापकृत्त्व-मिति न, किंतु तदीयजनस्य सर्वस्य मध्ये यदा यस्यकस्यचिद्ध-वेत् तदाऽपीत्यर्थः । मनुनाऽप्यवध्यन्तरमुक्तं—

न चार्तिमृच्छिति क्षिप्रं स ज्ञेयक्शपथैक्शुचिः।
इति । आर्तिः पूर्वोक्तो रोगादिः । क्षिप्रं शीघं, एकरात्रादर्वागिति यावत् ।अयं चाविधः स्वरूपकार्यनिर्णायकसत्यादिशपथिवपयः स्वरूपकालीनायाः शुद्धिभावनायास्तत्रैवोचितत्वात्, सत्यादिशपथान् प्रस्तुत्याभिहितत्वाच । त्रिरात्राद्यवधयस्तु को-

शाविषयाः, कोश्रमधिकृत्याभिधानात् । तत्रापि त्रिरात्रावधिस्त-ण्डुल्लविषयद्रव्यादर्वाचीनद्रव्यविषयः । सप्तरात्रावधिस्तु महा-भियोगद्रव्यादर्वाचीनद्रव्यविषयः । द्विसप्ताहावधिस्तु महाभि-योगविषयः । त्रिसप्ताहावधिस्तु,

विंशदशिवनाशे तु कोशपानं विधीयते।
इति प्रतिपादितकोशिवपय इसवगन्तव्यं औचित्यात्। सर्वत्रावधौ ऊर्ध्वमवधेर्वेक्वतदर्शनेऽपि न पापक्वच्छोध्यः, अवधिसामध्यीत्।
ऊर्ध्वकालीनस्य रोगादेर्निमित्तान्तरकारितत्वात्। अत एव
नारदः—

उर्ध्व यस्य द्विसप्ताहाँद्वेकृतं सुमहद्भवेत् । नाभियोज्यस्स विदुषा कृतकाल्रच्यतिक्रमात् ॥ द्विसप्ताहादिति पूर्वोक्तावधीनासुपलक्षणार्थं, 'कृतकाल्रच्यतिक्र-मात्' इति हेतोरवध्यन्तरेऽपि समानत्वात् ॥

इति स्मृतिचिनद्रकायां कोशविधिः

अथ तण्डुलविधिः.

तत्र पितामहः —

तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं लक्षणचोदितम् । चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यस्मिन्निति निश्चयः ॥ अन्यस्मिन् स्त्रीसङ्ग्रहणाद्यधनविवादे इत्यर्थः । धनविवादे तु चौर्यादन्यत्रापि तण्डुला देयाः 'तद्धीर्धस्य तण्डुलाः' इति कात्यायनेनोक्तत्वात् । न च तद्वचनं चौर्यविषयमेवास्त्विति वाच्यं 'दत्तस्यापद्ववो यत्र' इत्युपक्रमिवरोधापत्तेः । अतश्चौर्य-ग्रहणमर्थविवादप्रदर्शनार्थमिति मन्तव्यम् । अत्र प्रयोगो द्वच-हकालः । तत्र पूर्वेद्युर्यत्कर्तव्यं तदाह स एव—

तण्डुलान् क्षालयेच्छुक्तान् शालीयान् यस्यकस्याचित्।
मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतद्शुचिः॥
स्नानोदकेन संमिश्रान् रात्रौ तत्रैव वासयेत्।
आवाहनादि पूर्वं तु कृत्वा रात्रौ विधानतः॥

इति । शुचिर्भूत्वा पाडिवाको रात्रावादित्यस्य पुरतोऽनितदूरे तण्डुलानुपकल्प्य, धर्मावाहनादि होमान्तं सर्वदिन्यसाधारणवि-धिं विधायादित्यस्नानोदकेन यथास्थितांस्तण्डुलानाष्टुस, प्रभातप-र्यन्तंतथैव स्थापयेदित्यर्थः । प्रभाते च यक्तर्तन्यं तदिष तेन-दिशितं—

प्रभाते कार्यिणे देयास्त्रिः कृत्वा प्राह्मुखाय तु । इति । रात्राविधवासितास्तण्डुलाः शोध्याय भक्षणार्थे त्रिवारं देया इत्यर्थः । शोध्यस्य च यदनुष्ठेयं तद्प्यनुवादव्याजेन स एव दर्शयति—

पाङ्क्तिवोपोपितं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् ।
तण्डुलान् भक्षायित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्त्रिधा ॥
इति । प्राङ्मुखत्वादि निष्ठीवनान्तं प्राड्विवाकेन कारायितव्यम् ।
शोध्येन च कर्तव्यमित्यर्थः । पत्रे च विशेषस्तेनैव दर्शितः—

भूर्जस्यैव तु नान्यस्य अभावे पिष्पलस्य तु । इति । एतच प्रभातकृत्यं भक्षणादि सूर्यग्रहे कर्तव्यमिसाह वृहस्पतिः—

सोपवासस्मूर्यग्रहे तण्डुलान् भक्षयेच्छ्रचिः।

इति । तथा शुद्धचशुद्धिनिमित्तानि च तेन दार्शतानि —

शुद्धिस्त्याच्छुक्कनिष्ठीवे रक्तमिश्रे च दोपभाक्।

इति । न केवलं रक्तमिश्रे दोपभाक् अपि तु निमित्तान्तरेऽपीति

चश्चदार्थः। अत एव पितामहः—

शोणितं दश्यते यस्य हनुस्तालु च शीर्यति।

शोणितं दृश्यते यस्य हनुस्तालु च शीर्यति । गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां तण्डुलविाधिः

अथ तप्तमापविधिः

तत्र पितामहः--

तप्तमापस्य वक्ष्यामि विधिमुद्धरणे श्रमम् ।
कारयेदायसं पात्रं ताम्रं वा पोडशाङ्गुलम् ॥
चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ।
इति । मण्डलं परिमण्डलं वर्तुलमिति यावत् । एवंविधं पात्रं घृततैलाभ्यां गव्यघृतेनैव वा पूरियत्वा लैकिकमिंगं दिव्यदेशे
प्रतिष्ठाप्य तत्र तापयेत् । तथाच स एव—

पूरयेत् घृततेलाभ्यां विंशसा वै पलेस्तु तत्। गव्यं घृतम्रपादाय तदग्रो तापयेच्छिचिः॥

कोचिदत्र वाशब्दाद्यश्रपणात् घृततेलगव्यघृतानां समुचयामिच्छन्ति, तदसत् । त्रीहियवयोरिव निरपेक्षश्रुतिवलेनैव विकल्पावगतेः । अतो विंशतिपलं घृततेलं गव्यं वा घृतं पात्रे निक्षिप्य तापयेत् । पक्षद्वयेऽपि तापे वर्तमाने धर्मावाहनादि शोध्यशिरसि पत्रारोप-णान्तं सर्वदिव्यसाधारणविधिं विद्ध्यात् । ततःपरं पक्षद्वये पक्षरभेदः, तत्र तावत् घृततेल्लतापनपक्षे भेदमाह स एव—

> सुवर्णमाषके तस्मित् मुतप्ते निक्षिषेत्रतः । अङ्गुष्ठाङ्गुलयोगेन तप्तमाषकमुद्धरेत् ॥ कराग्रं यो न धुनुयात् विस्फोटो वा न जायते । धुद्धो भावति धर्मण निर्विकारकराङ्गुलिः॥

इति । माषकं कर्षपोडशांशप्रमाणम् । सुवर्णग्रहणमत्र द्विक्षण्णल-प्रमाणराजतमापीनद्वस्यर्थे, तस्यालपत्वेन दुर्ग्रहत्वात् । ततश्च हैमं ताम्नं वा माषकं निक्षिपेदिसर्थः । तस्मित् घृततेले अङ्गृष्ठाङ्गुलि-योगेन तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमानां समूहेनेसर्थः । गव्यघृततापनपक्षेऽपि कृते सर्वदिव्यसाधारणविधो विशेषमाह स एव—

> सोवर्णी राजतीं ताम्रीमायसीं वा सुशोधिताम् । सिल्लिन सकुद्धीतां प्रक्षिपत्तत्र मुद्रिकाम् ॥ भ्रमद्वीचीतरङ्गाढ्ये अनखस्पर्शगोचरे ।

परीक्षेतार्द्रपर्णेन चुरुकारं सघोपकम् ॥
ततश्चानेन मन्त्रेण सकृत्तद्भिमन्त्रयेत् ।
परं पित्रममृतं घृत त्वं यज्ञकर्मसु ॥
दह पात्रक पापं त्वं हिमशीतं शुचौ भव ।
उपोपितं ततस्त्रातमार्द्रवाससमागतम् ॥
प्राहयेन्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा ।
पदेशिनीं च तस्याथ परिक्षेरन् परिक्षकाः ॥
यस्य विस्फोटका न स्युः शुद्धोसावन्यथाऽश्चाचिः ।
इति । अत्र प्रदेशिनयेव मुद्रिकोद्धारणं, तस्याः परीक्षाविधानात् ।
इति समृतिचनिद्रकायां तप्तमापविधिः

अथ फालविधिः

तत्र वृहस्पातिः—

आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते । अष्टाङ्गुलं भवेदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तरम् ॥

एवांविधं दिन्यदेशमातिष्ठापिताश्री निक्षिप्य धर्मावाहनादौ शो ध्यशिरासि पत्रारोपणान्ते सर्वादिन्यसाधारणविधावनुष्ठिते सुतप्तं कुर्यात् । सुतप्ते कृते कर्तन्यमाह स एव—

अग्निवर्ण तु तचोरो जिह्नया छेहयेत्सकृत् ।

न दग्धश्चेच्छुचिमियादन्यथा तु स हीयते ॥
चोरग्रहणं शोध्योपलक्षणार्थम् ।

इति स्मार्तचान्द्विकायां फालविधिः

अथ धर्मजविधिः.

तत्र पितामहः —

अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । राजतं कारयेद्धर्ममधर्म सीसकायसम् ॥ छिखेत् भूर्जे पटे वाडापे धर्माधर्मी सितासितौ । अभ्युक्ष पञ्चगव्येन गन्धमारुयैस्समर्चयेत् ॥ सितपुष्पस्तु धर्मस्स्यात् अधर्मोसितपुष्पधृक् । एवं विधायोपालिप्य पिण्डयोस्तु निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा वाऽपि पिण्डौ कार्यौ समन्ततः। मृद्धाण्डकेऽनुपहते स्थाप्यौ चानुपलाक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवब्राह्मणसंनिधौ । आवाहयेक्तो देवान् लोकपालांश्व पूर्ववत् ॥ धर्मावाहनपूर्व तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत्। यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे ॥ अभियुक्तस्ततश्चैकं प्रगृह्णीताविल्राम्वितः। धर्मे गृहीते शुद्धः स्यादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं धर्माधर्मपरीक्षणम् ।

इति । सीसकायसं सीसकिमश्रायसिनिर्मितम् । आयसिनिर्मितं वेति वर्णयन्ति । पिण्डयोस्तौ निधापयेत् पिण्डयोरभ्यन्तरे तौ स्थापयेदित्यर्थः । पिण्डौ समपरीमाणौ कर्तव्यौ, समो कृत्वा नवे कुम्भे स्थाप्यो चानुपलक्षितौ । इति वृहस्पतिस्मरणात् । यदि पापाविसुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे ।

द्याद पापावमुक्ताऽह धमस्त्वायातु म कर । इति मन्त्रं शोध्यो ब्रूयात्, अहमिति मन्त्रालिङ्गात् । अन्यत्सर्वे व्यक्तार्थम् ।

> इति स्मृतिचिन्द्रिकायां धर्मजिविधिः समाप्तं च दिव्यप्रकरणम् ॥ क्रियापादश्च समाप्तः ॥

अथ निर्णयादिकत्यम्

तत्र सङ्गहकारः—

रक्तप्रकाररूपेण स्वमतस्थापिता किया । राज्ञा परीक्ष्य सभ्येश्च स्थाप्यो जयपराजयो ॥ यो यथोक्तान्यतमया क्रिययाऽर्थे प्रसाधयेत् । भाषाक्षरसमं साध्यं स जयी परिकीर्तितः ॥ असाधयन् साधियत्वा विपरीतार्थमात्मनः । दृष्टकारणदोषो यः पुनस्स तु पराजयी ॥

इति । अत्र व्यासः---

जितं तु दण्डयेद्वाजा जेतुः पूजां प्रवर्तयेत् । अजिता अपि दण्ड्याः स्युः वेदशास्त्रविरोधिनः॥ पूजा च गन्धमाल्यवस्त्रादिना कार्या ।

जेतुः प्रवर्तते पूजा गन्धमाल्याम्बरादिना ॥ Smriti Cha.—Vol. III इति तेनैव स्पृतत्वात् । पूजापवर्तनानन्तरं कात्यायनः— सिद्धेनार्थेन संयोज्यो वादी सत्कारपूर्वकम् । छेरूयं स्वहस्तसंयुक्तं तस्मै दद्यातु पार्थिवः॥

नारदोपि-

मध्ये यत् स्थापितं द्रव्यं चलं वा यदि वा स्थिरम् । पश्चात्तत्सोदयं दाप्यं जियने पत्रसंयुतम् ॥

पत्रं जयपत्रम् । तथाच वृहस्पतिः---

पूर्वोत्तराक्रियायुक्तं निर्णयान्तं यदा तृपः ।

प्रद्याज्जियने लेख्यं जयपत्रं तदुच्यते ॥

जयपत्रे च यद्वक्तव्यं तदाखिलं लेख्यविधावुक्तं, तदत्रानुसन्धे
यम् । 'सिद्धेनार्थेन संयोज्य' इत्यस्य कीचिद्धिषये विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

निहुते लिखितं नैकमेकदेशविभावितः । दाप्यस्तर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥

अस्यार्थः—निष्कवस्वाभरणाद्यनेकं प्रतिज्ञाकाले लिखितं यदा प्रातेवादी निहुते मिथ्येतदित्युक्तवान् । एकदेशविभावितः वादिना चैकदेशप्रमाणत एव सत्यं मयेसङ्गीकारितः स सर्वमेव प्रतिज्ञातमर्थमिथिने नृपेण दाष्यः । नैवं प्रतिज्ञायां लिखितः । पश्चाद्वादिनोच्यमानोऽर्थः नृपेण न दाष्यतया ग्रहीतन्य इति । एतद्कं भवाति—

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान् नयेत्रृपः।
इत्युक्तमेवंविधविषये तृंपेण नादर्तव्यम्, दुष्टाशयत्वस्यात्र सिद्धत्वादिति। न च वाच्यं छलानुसारित्वात् सर्वदापनमापे तृपेण
नादरणीयमिति। यदाह कात्यायनः—

सर्वापलापं यः कृत्वा मिथोऽल्पमिष संवदेत् ।
सर्वमेव तु दाप्यः स्वादिभियुक्तो वृहस्पतिः ॥
आदरार्थं वृहस्पंतिग्रहणम् । नारदोपि सर्वदापनमाद्तिव्यमिति
दर्शायितुमंभियुक्तदेयत्वमाह—

अनेकार्थाभियुक्तेन सर्वार्थव्यपलापिना ।
विभावितैकदेशेन देयं यद्भियुज्यते ॥
ननु प्राचीनवचनानां प्रागुक्तार्थाभिधाने धर्मनिर्णयार्थता न स्यात्
छलानुसारेण तेषां व्यवहारनिर्णयाभिधायकत्वात् । ससं—
तथाऽपि न दोषः—प्रागुक्तविपये व्यवहारीनर्णयस्य धर्मनिर्णय्यवाधकत्वात् । अत एव वृहस्पतिः—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः । व्यवहारम्स विज्ञेयो धर्मस्तेनापि हीयते ॥

इति । यत्र प्रागुक्तविषयादावित्यर्थः । यत्तु कात्यायनेनोक्तम्— अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत् संसाधयेद्धनी । साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम् ॥

इति, तद्यत्र दुष्टाशयत्वस्यात्यन्तदार्ड्याभावस्तद्विपयम् । प्राची-नवचनेष्विवात्र प्रतिवादिनः सर्वापलापलक्षणदौष्टचकथनांशा- भावात्। केचिद्स्य वचनस्य पुत्रादिदेयपित्रादिऋणविषयत्वं वदतितं 'तत्रैव नाभिजानामि' इत्युत्तरत्रयसम्भवादिति वदन्तः।तन्न
समीचीनम् —स्वकृतऋणविवादेऽपि विस्मरणादिनोत्तरत्रयस्य समभवात्। पुत्रादेः पित्रादिकृतऋणविवादे मिथ्यैतदित्युत्तरमुक्तवतो निह्नववादित्वेऽपि साधितमात्रदानप्रसङ्गाच । अथ—पुत्रादेमिय्यैतदित्युत्तरं न सम्भवतीत्युच्यते । मेवं वोचः—ऋणग्रहणकाले प्रवुद्धस्य अपनुद्धस्यापि मात्रादिवचनतस्तत्सम्भवात् ।
अथ नाभिजानामीत्युत्तरमुक्तवति पुत्रादौ साधितमात्रलाभवचन
मित्युच्यते, ताई नाभिजानामीत्याद्युत्तरत्रयविषयकत्वं तस्य
परिकल्प्यताम्, किं पुत्रादिविषयत्वेन । अथ—

पुत्रपोत्रे ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥
इति स्मरणात् पुत्रादिविषयत्विमत्युच्यते, तर्हि मिथ्येतदित्युक्तः
पुत्रादिविषयत्वं न पुनः नाभिजानामीत्युक्तवत्पुत्रादिविषयत्वं,
'निह्नवे साक्षिभावितम्' इति स्मरणात् ॥

अन्ये त्वन्यथा व्यवस्थापयन्ति सर्वार्थदापनवचनं प्रतिज्ञा तार्थानां मध्ये यद्येकमप्यर्थमर्थीं साधयति, तदा सर्वानेतानर्थानहं ददामीसेवं सावष्टमभोक्तियुक्तिनिह्नवविषयम्।तद्रहितविषयं तु सा-धितमात्रलाभावचनिमति।एतदप्ययुक्तम्, 'निह्नुते लिखितं नैकम्' इसपि शेषेणाभिधानात् । न च छलोदाहरणपरत्वादस्य वाक्य-स्य तित्सद्धये सावष्टमभनिह्नवविषयत्वमास्थीयत इति युक्तम्,सर्वा- पलापच्छलमादाय व्यवहारसमाष्त्यभिधानात् ।तावतैव वाक्यस्य छलेदाहरणपरत्वासिद्धेः । भाषावलेनैवोक्तविषये सर्वदापनात् अनुवादकं च 'निहुते' इसादिवचनं, तत्समानार्थे वचनद्वयमपि स्यात् । न च—

अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत् संसाधयेद्धनी । इत्यादिकासायनवचनपरिहारायैवमाश्रीयत इति युक्तम् । तद्धिः रोधस्य ऋजुमार्गेण परिहृतत्वादित्यस्रमतिविक्तरकारिणा मता-न्तरोपन्यासनिरासेन ॥

दापनप्रकारस्तु कात्यायनेन दर्शितः—
राजा तु स्वामिने विभं सान्त्वेनैव प्रदापेयत् ।
देशाचारेण चान्यांस्तु दुष्टान् संपीड्य दापयेत् ॥
रिक्थिनं सुहृदं वाऽपि छल्लेनैव प्रदापयेत् ॥
इति । न केवलं राजा स्वामिने प्रदापयेत्, स्वयमपि दण्डं गृद्धी
यादित्याह नारदः—

ऋणिकस्सधनो यस्तु दौरात्म्यात्र प्रयच्छित ।
राज्ञा दापियतव्यः स्यात् गृहीत्वांशं तु विंशकम् ॥
दाप्यार्थस्य यावान् विंशतितमो भागः तावन्तमर्थमधमणिकात्
गृह्णीयादिसर्थः । एतदपि प्रतिपत्रऋणिकविषयम् । विप्रतिपत्रऋणित्वे त्वाह विष्णुः—'उत्तमर्णश्रेद्राजानीमयात्तिद्वभावितोऽधमणों राज्ञे धनदशभागसमं दण्डं दद्यात् । प्राप्तार्थश्रोत्तमणों

विंशतितममंशम्' इति । प्राप्तार्थेन दानभृतित्वेन, न दण्डत्वेन निरपराधित्वात् । यदा त्वधमणों राजानमियातदा मनुराह—

> यस्साधयन्तं छन्देन वेद्येद्धनिकं तृपे। स राज्ञर्णचतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥

यो राज्ञः त्रियोऽधमर्णस्तदाज्ञया प्रतिवन्धनं कारिष्यामीति बुद्धचा धनिकं छन्देन स्वेच्छया साधयन्तं प्रयुक्तधनयाचनेऽप्रवृत्तं नृषे वेदयेत् मां पीडियिष्यतीत्यावेदयेत्, असौ ऋणं तचतु-भीगसमं च दण्डं राज्ञा दाष्य इत्यर्थः । यत्पुनस्तेनोक्तम्—

यो यावित्रह्वितार्थं मिथ्या यावाते वारयेत्। तौ नृषेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तिह्रगुणं दमम् ॥ इति तदुहृत्ताधमणीत्तमणीविषयं, अधर्मज्ञग्रहणादित्युक्तं तद्भाष्ये। यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तं ---

निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् । इति, तदुद्वृत्ताधमर्णस्योक्तदण्डपर्याप्तधनासम्भवविषये वेदित-व्यम्, अन्यथा पूर्वोक्तविष्णुमनुवचनविरोधस्य दुर्वारत्वात् । मिथ्याभियोगिनस्तु अपर्याप्तधनस्यापि न तत्समदण्डः । यदाह स एव —

मिथ्याभियोगी द्विगुणमियोगाद्धनं वहेत् ।। इति । अभियोगात् अभियुक्तधनात् द्विगुणं धनं वहेत् राज्ञे दद्यादित्यर्थः । तावद्धनाभावे तु 'आनृण्यं कर्मणा गच्छेत्' इसायनुकल्पोऽवगन्तव्यः । यत्तु नारदेनोक्तम्—

न च मिथ्याऽभियुङ्जीत दोषो मिथ्याभियोगिनः ।

यस्तत्र विनयः प्रोक्तः सोऽभियोक्तारमात्रजेत् ॥

इति, तत्प्रतिपदोक्तदण्डाभावविषयं सामान्यशास्त्रत्वात् । तेन निद्धवे असङ्घत्तस्य यो दण्डोऽभिहितो विष्णुना स एव सङ्घ-त्तस्य मिथ्याभियोगिनो भवतीत्यवगन्तव्यम् । तथा—

> निह्नवे तु यदा वादी स्वयं तत्प्रतिपद्यते । ज्ञेया सा प्रतिपत्तिस्तु तस्यार्थो विनयः स्मृतः ॥

इति व्यासेन यो दण्डोऽभिहितः स एव मिथ्याभियोगेऽपि स्वयं तत्प्रतिपद्यमानस्य भवतीति चावगन्तव्यम् । यत्पुनर्मनु-नोक्तम्—

> अर्थेऽपव्ययमानं तु कारणेन विभावितम् । दापयेद्धनिकस्यार्थे दण्डलेशं च शक्तितः ॥

इति, तद्दशमांशदण्डद्रानासमर्थसहृत्ताधमणिविषयमित्युक्तं तद्भा-ह्ये । कारणेनेति वदन् द्विषादव्यवहारे त्वर्थदापनमेव, न दण्ड-दापनम् , तत्र निह्नविष्याभियोगयोरभावादिति दर्शयति । एवमेव चतुष्पादेऽपि व्यवहारे शङ्काभियोगाज्ञानोत्तरादिना मि-ध्याभियोगनिह्नवाभावे दण्डाभावोऽध्यवसेयः । यत्तु समृत्य-नतरम्—

आद्ये तु दण्डपादस्स्यात् द्वितीयेऽर्धे तृतीयके ।

पादन्यूनं चतुर्थे च पादे सम्पूर्णदण्डभाक् ।।
इति, तद्रिगीतत्वादप्रमाणामिति प्रपश्चितं विश्वरूपाचार्येण ।
अतो निक्षत्रमिथ्याभियोगनिमित्तो दण्डश्चतुष्पद्येव व्यवहारे
निमित्तसद्भावविषये ग्रहीतव्यः । तत्र ऋणादानविषयव्यवहारे
दण्डविशेषो दशितः । निक्षेपादिविषयव्यवहारे तु दण्डविशेषत्तत्रतत्र पदे वक्ष्यते । यत्पुनः कात्यायनेमोक्तम्—

शतार्ध दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभाग्भवेत् ॥

इति, तिहर्ग्यावेशपावधृतशुद्धपुरुपविषयं, यतोऽनन्तरमाह स एवविषे तोये हुताशे च तुलाकोशे च तण्ङुले ।

तत्रमापकदिन्ये च क्रमादण्डं प्रकल्पयेत् ॥

सहस्रं षद्शतं चैव तथा पश्चशतानि तु ।

चतुःस्तिद्वयेकमेवंच हीनं हीनेषु कल्पयेत् ॥

इति । अयं च दिव्यनिवन्धनो दण्को निह्नवामिथ्याभियोगयोर-न्यतरिनवन्धेन दण्डेन समुचीयते, निमित्तसमुचयात् । पणस्तु शास्त्रोक्तदण्डेन समुचीयते इत्याह याज्ञवल्क्यः—–

सपणश्चेत् विवादस्त्यात् तत्र हीनं तु दापयेत् । दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च ॥ नारदोषि--

> विवादे सोत्तरपणे द्वयोर्वस्तत्र हीयते । स पणं स्वकृतं दाप्यो विनयं च पराजये ॥

इति । अत्र कासायनः—

एवं धर्मासनस्थेन समेनैव विवादिना। कार्याणां निर्णयो दृश्यो ब्राह्मणैस्सह नान्यथा॥

वृहस्पतिरपि--

राज्ञा यत्नेन कर्तव्यं सन्दिग्धार्थविचारणम् । त्रयस्तत्रोपचीयन्ते हानिरेकस्य जायते ॥ जेताऽऽप्नोति धनं पूजां जितो विनयनिग्रहम् । जयं दानं दमं राजा सभ्याः पुण्यमवाप्नुयुः ॥

इति । नारदोपि-

एवं पश्यन् सदा राजा व्यवहारान् समाहितः। वितसेह यशो दीप्तं शकस्यैति सलोकताम्॥

वृहस्पतिरपि-

एवं शास्त्रोदितं राजा कुर्वित्रणयपाछनम्। वितसेह यशो छोके महेन्द्रसचिवो भवेत्॥ साक्षिछेख्यानुमानेन प्रकुर्वन् कार्यनिर्णयम्। वितसेह यशो राजा ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥

इति । मनुरपि-

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थ धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ Smriti Cha.—Vol. III यस्त्वधर्मेण कार्याण मोहात्कुर्यान्नराधिपः। अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः॥ इति॥ इति स्मृतिचान्द्रिकायां निर्णयादिक्रत्यम्॥

अथान्यान्यपि दण्डविषयाणि कानिचिद्वचनानि लिख्यन्ते. तत्र नारदः—

शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डस्तु हिविधः स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥ काकण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैवच । इति । अत्र शारीरो दण्डभेदः पारिगणियतुं शक्यो नार्थदण्डभेद इत्याह स एव—

शारीरो दशधा प्रोक्तो हार्थदण्डस्त्वनेकधा।
इति । दशधिति न संख्यानियमार्थम्, अतो वहुविधस्य शारीरदण्डस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथाहि — मनुना तावन्नवविधश्शारीरो
दण्ड इति दर्शितः —

दश स्थानानि दण्डस्य मनुस्स्यायम्भुनोऽत्रवीत् ।
उपस्थ उदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पश्चमम् ॥
चक्षुनीसा च कणीं च धनं देहस्तथैव च ।
इति । उपस्थः स्त्रीपुंसयोर्लिङ्गम् । तित्रप्रहोऽगम्यागमने । चौर्थे
त्वाहारनिष्टन्यादिना जठरस्य निग्रहः । वाक्पारूप्ये जिह्वायाः ।

दण्डपारुष्ये हस्तयोः । पाद्प्रहारादौ पाद्योः । गोष्यिनिरीक्षणादौ चक्षुपः । परस्नीस्तनानुलेपनगन्धग्रहणादौ नासिकायाः । राजमन्त्रश्रवणादौ कर्णयोः । उत्कोचप्रदानादौ व्ययप्रतिवन्धादिना धनस्य । महापातकादौ देहस्य । अयं चोपस्थादीनां निग्रहो यत्रागम्यागमनचौर्यादौ क्षत्रविद्शुद्राणां दण्डविशेषो नाम्नातस्तत्र कार्यः—

त्रिषु वर्णेषु तानि स्युरक्षतो त्राह्मणो त्रजेत् ॥
इति क्षत्रियादिषु सामान्येनाभिधानात् । अक्षतो त्राह्मणः
पूर्वोक्तदण्डस्थानेष्वदण्डितो त्राह्मण इत्यर्थः । त्रजेदिति वदन्
यो निर्वासितो देशान्तरं गच्छित तस्यैवोक्तदशस्थानेष्वदण्डो न
पुनर्वाह्मणमात्रस्येति दर्शयित । अत एव निर्वासनिविधिशेषतयाऽपि तेनोक्तम्—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववास्थितम् । राष्ट्रादेनं वहिष्कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥

इति । यस्य तु न वहिष्कारः तस्य क्षत्रियादिवदेव दण्डः । तथा च स एव—

> चतुर्णीमिप वर्णीनां प्रायिश्चत्तमकुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धम्यं पकल्पयेत् ॥

यतु गौतमेनोक्तं—'न शारीरो ब्राह्मणदण्डः' इति, तद्वधरू पस्याङ्गभङ्गात्मकस्य निपेधार्थ, न पुनरङ्गनिग्रहात्मकस्यापि । तथात्वे पूर्वोक्तवचनिवरोधात्। अत एव वृहस्पतिना विशेषितः—
महापातकयुक्तोपि न विष्ठो वधमहिति।
इति। हारीतेनापि—

न त्वङ्गभेदं विप्रस्य प्रवद्गित मनीपिणः ।

इति । एवश्चाङ्गानिग्रहात्मक एव शारीरो दण्डो विप्रस्य न तु
वधाद्यात्मक इस्रनुसन्धेयम् । अत एवापस्तम्वः — 'चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य 'इति । निरोधश्चश्चषो वन्धनादिना कार्यो
न त्वाश्रयोद्धरणेन । अङ्गभङ्गस्य निषिद्धत्वात् । यत्तु शङ्घेनोक्तम्—
'त्रयाणामिष वणीनां धनापहारवधवन्धित्रया । विवासनाङ्ककरणं ब्राह्मणस्य 'इति, तद्दिद्ब्ब्राह्मणविषयम् । तथाच ब्राह्मणं प्रकृस गौतमः— 'कर्मवियोगविष्यापनविवासनाङ्ककरणान्य
वृत्तौ 'इति । अवृत्तौ निर्धन इत्यर्थः । एतदुत्तमसाहसविषयम् ।
ऋणापलापादिविषये तु मनुराह—

क्षत्रविदृश्द्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् । आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विपो गच्छेच्छनैदशनैः ॥ कर्मकरणासामर्थ्ये तु कात्यायन आह—

धनदानासहं बुध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत् । अशक्तौ वन्धनागारं प्रवेश्यो ब्राह्मणादते ॥ मनुरापि--

> स्त्रीवालोन्मत्तरुद्धनां दरिद्रानाथरोगिणाम्। शफाविदलरज्जाचौर्विदध्यात्रृपतिर्दमम् ॥

एवश्च वन्धनाङ्ककरणकर्मकरणवन्धनागारप्रवेशनताडनक्ष्पाः शा-रीरदण्डभेदाः पश्च विश्लेयाः । अतदशारीरो दश्चेत्युपलक्षणार्थ-— मुक्तम् । नावधारणार्थीमाति मन्तन्यम् । 'दण्डस्तु द्विविधस्समृतः' इस्रेतद्रयुपलक्षणार्थमेव, विधान्तरस्थापि स्मृतत्वात् । तथाहि-

> शिरसो दण्डनं मुण्डस्तस्य निर्वामनं पुरात्। ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥

तस्य ब्राह्मणस्येत्यर्थः । ब्राह्मणस्य प्रकृतत्वात् । अथ वधस्थाने मुण्डंनं दण्ड इत्याह याज्ञवलक्यः—

त्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरानिर्वासनं तथा।
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥
एवश्च क्षत्रियादौ वध एव न मुण्डनम् । तत्र प्रतिनिधित्वेनास्पृतत्वात् । अत एव मनुः—

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेपां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ।। उत्तमसाहस इति शेपः । तथाच नारदः—

वधस्सर्वस्वहरणं पुरान्तिर्वासनाङ्गने ।
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे ॥
अविशेषेण सर्वेपामेप दण्डविधिः स्मृतः ।
वधाहते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽईति ॥
इति । वधाहत इत्यङ्गच्छेदस्याप्युपलक्षणार्थम्,

न त्वङ्गभेदं विष्रस्य प्रवदन्ति मनीपिणः । तपसा चेज्यया चैव ब्राह्मणः पूज्यते सदा ॥

इति हारीतस्मरणात्। मनुस्तु-

वधदण्डपरित्यागे हेतुमाह---

न त्राह्मणवधात्पापात् नाधर्मो विद्यते कचित्। तस्मात्तस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत्॥

अतो महापातकयुक्तोपि विप्रो न वध्य इत्याह वृहस्पतिः — महापातकयुक्तोपि न विप्रो वधमईति ।

इति । किं तर्ह्याहतीत्यपेक्षितेऽनन्तरमुक्तं तेनैव—
निर्वासनाङ्कने मौण्ड्यं तस्य क्र्यान्नराधिपः।

इति । निर्वासनमत्र देशतो न पुनः पुरात् । यदाह वोधायनः— 'तप्तेनायसेन छछाटेऽङ्कियित्वा विषयान्निर्वासनम्' इति । कुर्या-

दिति शेपः । अङ्कने तु विशेषो नारदेन दर्शितः —

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराव्धजः । स्तेये तु श्वपदं कार्ये ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥

अङ्कनं त्विदं न क्षित्रियादिषु कर्तव्यम् । यदाहोशना— व्राह्मणस्थापराधेषु चतुर्ध्वङ्को विधीयते । गुरुतल्पे सुरापाने स्तेये व्राह्मणहिंसने ॥ इतरेपां तु वर्णानामङ्कनं नात्र कारयेत् । इति । कस्तार्हे दण्डस्तत्रेत्यपेक्षिते बृहस्पतिः—

महापराधयुक्ताांश्च वधदण्डेन शासयेत् ॥

- इति । यदा तु वधदण्डेन महापराधिनो निग्रहीतुं नशक्यास्तदा

मनुराह—

वधेनापि यदा त्वेतान् निग्रहीतुं न शक्नुयात् । तदेपु सर्वमप्येतत् प्रयुक्षीत चतुष्ट्यम् ॥

किं तचतुष्ट्यमित्यपेक्षिते याज्ञवल्क्यः-

वाग्दण्डस्त्वथ धिग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा। योज्यास्समस्ता व्यस्ता वाङ्प्यपराधवशादिमे ॥

वाग्दण्डः परुपशापवचनात्मकः । धिग्दण्डे धिगिति कुत्सनम् । समस्तानां योजने क्रममाह मनुः---

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तद्नन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥

व्यस्तामां तु योजने व्यवस्थामाह बृहस्पतिः— खल्पापराधे वाग्दण्डो धिग्दण्डः पूर्वसाहसे । मध्यमे त्वर्थदण्डस्तु राजद्रोहेषु वन्धनम् ॥ निर्वासनं वधो वाऽपि कार्यमात्महितैपिणा । व्यस्तास्समस्ता एकस्य महापातककारिणः ॥

इति । तथा पुरुपापेक्षयाऽपि व्यवस्था तेनैव दार्ज्ञता-मित्रादिपु प्रयुक्षीत वाग्दण्डं धिक् तपस्थिनाम् ।

विवादिनो नरांश्चान्यान्दोपिणोऽर्थेन दण्डयेत् ॥ आदिग्रहणेन मान्या जना गृह्यन्ते ।

गुरून पुरोहितान पूज्यान वाग्दण्डेनैव दण्डयेत् ।
विवादिनो नरांश्चान्यान् धिग्धनाभ्यां च दण्डयेत् ॥
इति तेनैवोक्तत्वात् । यत्तु शक्षेनोक्तम्—'अदण्ड्यो मातापितरौ
स्नातकपुरोहितौ परित्राजकवानत्रस्थौ जन्मकर्मश्रुतिशीलशौचाचारवन्तश्च' इति । यदपि कायायनेन—

आचार्यस्य पितुर्मातुर्वान्धवानां तथैव च ।

एतेपामपराधेषु दण्डो नैव विधीयते ॥

इति, तच्छारीरार्थदण्डयोर्निपेधार्थ, न पुनर्दण्डमात्रस्य । यदाह मनुः—

पिताः ऽचार्यस्मुहन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति धर्मादिचलितः स्वकात् ॥
वृहस्पतिरिप-

ऋत्विकपुरोहितामात्याः पुत्रास्सम्बन्धिवान्धवाः । धर्माद्विचीलता दण्ड्या निर्वास्या राजिहंसकाः ॥ यत्तु गौतमेनोक्तं—'पङ्गिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चावन्ध्यश्चा-दण्ड्यश्चावहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्च' इति तदेतत् 'स एप बहुश्रुतो भवति । लोकवेदवेदाङ्गवित् । वाकोवा-क्येतिहासपुराणकुश्चलः । तद्पेक्षः तद्वातिः । चत्वारिंशता संस्कारेस्संस्कृतः । त्रिपु कर्मखाभिरतः । पट्सु वा । सामयाचा-रिकेपृभिविनीतः ' इति प्रतिपादितवहुश्रुतविषयम् । अतो न प्राचीनवचनविरोधः । कात्यायनोष्यदण्ड्यमाह—

प्राणात्यये तु यत्र स्यादकार्यकरणं कृतम् ।
दण्डस्तत्र तु नैव स्यादेप धम्यों भृगुसमृतः ॥
नारदस्तु विहितदण्डार्धेन दण्डमाह—

अयुक्तं साहसं कृत्वा प्रत्यापात्तं व्रजेतु यः।
बूयात्खयं वा सदासे तस्य चार्धो दमस्सृतः॥
व्यासोपि—

व्याधिना पीडितो यस्तु यः काश्चिद्पि ताम्याति । नैतन्मया पुनः कार्ये ब्र्यात्तस्यार्धको दमः ॥

अत्र पक्षान्तरमाह गौतमः—'अनुज्ञानं वा वेदवित्समयवचनात्' इति । अनुज्ञानं अदण्डियत्वोत्सर्जनम् । तथा विहितदण्डादभ्य-धिकमूनं वा दोपिणः पीडाजननसमर्थं दण्डं विद्ध्यादिसाह स एव—'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्' इति । यावति पीडाविशेषे दमनकार्योपश्चमस्तावत्पीडाकरं कुर्यादिसर्थः। तथाच मनुः—

> अनुवन्धं परिज्ञाय देशकाली च तत्त्वतः । सारापराधावालोच्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥

याज्ञवल्क्योपि-

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं वल्लमथापि वा । वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येपु पातयेत् ॥ तत्रोदाहरणमाह मनुः—

कार्पापणं भवेदण्ड्यो यहान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राज्ञो भवेदण्डः सहस्रामिति धारणा ॥
प्राकृतो दिरदः । राजा ऐश्वर्येणाधिष्ठितः । कास्यायनोऽपि—
येन दोषेण जूद्रस्य दण्डो भवाति धर्मतः ।
तेन चेत् क्षत्रविप्राणां द्विगुणो द्विगुणो भवेत् ॥
प्रव्रज्यावसितं जूदं जपहोमपरायणम् ।
वधेन शासयेत्पापं दण्ड्यो वा द्विगुणं दमम् ॥
वहस्पतिरापि—

वधाईस्सुवर्णशतं दमं दाष्यस्तु पूरुपः।
अङ्गच्छेदाईकस्त्वर्धे संदंशाईस्तदर्धकम्॥
ताडनं वन्धनं चैव तथैव च विडम्बनम्।
एप दण्डो हि दासस्य नार्थदण्डो वृहस्पतिः॥
नारदोऽपि—

काकण्यादिस्तु यो दण्डः स तु मापपरः स्मृतः । मापावरार्थो यः प्रोक्तः कार्पापणपरस्तु सः ॥ कार्पापणावरार्थस्तु चतुष्कार्पापणोत्तरः । द्वचवरोऽष्टपरश्चान्यस्वचवरो द्वादशान्ततः ॥ कार्पापणास्तु ये प्रोक्तास्सर्वे ते स्युश्चतुर्गुणाः । इति । काकण्यादिशब्दार्था दिव्यमकरणे दर्शिताः । अत्र कात्यायनः—

किरितो यस्य यो दण्डस्त्वपराधस्य यत्नतः ।

पणानां ग्रहणं तु स्यात्तन्मूल्यं वाऽथ राजिन ॥

मापपादो द्विपादो वा दण्डो यत्र प्रवर्तितः ।

अनिर्दिष्टं तु विज्ञेयं मापकं तु प्रकल्पयेत् ॥

यत्रोक्तो मापकदण्डो राजितं तत्र निर्दिशेत् ।

कृष्णलेश्चोक्तमेव स्यादुक्तदण्डविनिश्चयः ॥

इति । पणानां कार्षापणानामित्यर्थः । तेषां सञ्चयाभेदिनन्धनाः

पारिभाषिक्यः संज्ञा मनुना दिशिताः—

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसस्समृतः ।

मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः ।

इयं परिभाषा प्रथमापराधविषयेऽनुवर्तव्या । पुनःपुनरपराधाविषये

त्वाह याज्ञवल्क्यः—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तद्र्भ मध्यमः प्रोक्तस्तद्र्भमधमस्स्मृतः ॥
अतो यत्रयत्रोत्तमसाहसादिशब्दैर्दण्डो निगद्यते तत्र तत्र एतत्सक्षयाकाः कार्षापणास्त-मूल्यनिष्कादयो वा ग्रहीतव्याः । एवम्रक्रमकारो दण्डः सर्वेलोकानन्दहेतुरित्याह स एव—

यथाशास्त्रं प्रयुक्तस्सन् सदेवासुरमानवम् ।
जगदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥
तथोच्छास्तदण्डनस्य निन्दां विपरीतस्य प्रशंसां चाह स एव —
अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलेशकविनाशनम् ।
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥
दण्ड्यास्तु तेन दण्डेन क्षीणपापा भवन्तीत्याह नारदः —
राजाभिधृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तस्सुकृतिनो यथा ॥
कात्यायनोपि—
शुद्धिस्तु शास्त्रतन्त्रेश्विकित्सा समुदाहृता ।

शुद्धिस्तु शास्त्रतत्त्वत्तेश्विकित्सा समुदाहता । प्रायश्चित्तं च दण्डं च ताभ्यां सा द्विविधा स्मृता ॥ इति स्मृतिचिन्द्रिकायां दण्डविषयाणि ॥

अथ पुनर्न्यायः.

तत्र नारदः---

स्त्रीपु रात्री बहिर्ग्रामादन्तर्र्वेश्मन्यरातिषु ।
व्यवहारः कृतोष्येषः पुनः कर्तव्यतामियात् ॥
स्त्रीभिश्शत्रुभिर्वा रहिस वा निर्णातो व्यवहारोऽज्ञानपक्षपातयोः
स्सम्भवात् पुनर्विचारणीय इत्यर्थः । एवं बलात्कारेण रागद्वेपाद्युपाधिना वा निर्णातं निवर्त्य व्यवहारान्तरं प्रवर्तनीयम् ।
तथाच याज्ञवल्क्यः—

वलोपाधिविनिर्रेत्तान्च्यवहाराान्नेवर्तयेत् ॥ इति । ततः पश्चाद्वचवहारान्तरं प्रवर्तयेदित्याभेपायः । तथा च्यवहर्त्तवैगुण्येऽप्येवं कार्यामित्याह स एव—

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिवालभीतादियोजितः । असान्दिग्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिधचिति ॥ आदिशब्देन दृद्धयोजितादयो व्यवहारा गृह्यन्ते । अत एव मनुः—

मत्तोत्मत्तार्ताद्यधीनैः वालेन स्थिविरेण वा ।
असम्बन्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिधचिति ॥
असम्बन्धः अधिप्रत्यिधिसंबन्धरहितः । नारदोपि—
पुरराष्ट्रविरुद्ध यश्च राज्ञा विवीजतः ।
अनादेयो भवेद्वादः धर्मविद्धिरुदाहृतः ॥
हारीतोपि—

राज्ञा विवर्जितो यस्तु स्वयं पौरविरोधकृत् ।

राष्ट्रस्य वा समम्तस्य प्रकृतीनां तथैव च ॥

अन्ये वा ये पुरे ग्रामे महाजनविरोधकाः ।

अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः ॥

एवंचैवंविधव्यहारं तीरितमप्यनुशिष्टमपि निवृत्य व्यवहारान्तरं

कर्तव्यिमिति तात्पर्यार्थोऽनुसन्धयः । तीरितानुशिष्टयोर्भेद्माह

काल्यायनः—

असत्सदिति यः पश्चस्तभ्येरवावधार्यते ।
तीरितः सोऽनुशिष्टस्तु साक्षिवाक्यात् प्रकीिर्ततः ॥
साक्षिवाक्यादवधारितोऽनुशिष्ट इत्यर्थः । यत्पुर्नमनुनोक्तं—
तीरितं चानुशिष्टं च यत्र कचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धमयोर्विद्यात् न तद्भयो निवर्तयेत् ॥
इति, तत् स्वीकृत्वादिनिवृत्तिहेत्वभावविषय एवेात्सर्गमात्रीमिति
मन्तव्यम् । अत एव तस्चापवादमाह वृहस्पतिः—

कुलादिभिानीश्वितेऽपि न संतोषं गतस्तु यः।

विचार्य तत्क्वतं राजा कुकृतं पुनरुद्धरेत् ॥
विहितनिर्णेतृनिर्णोतेऽपि व्यवहारसमाप्तिरन्यायेनेति यादि
विवादी मन्यते तदाऽपि पुनर्न्यायः कार्य इत्यर्थः । कुकृतत्वे
सिद्धे प्राइन्यायद्रष्टॄणां दण्डमाह नारदः—

दुईष्टे व्यवहारे तु सभ्यास्ते दण्डमामुयुः।
न हि जासु विना दण्डात् कश्चिन्मार्गेऽत्रतिष्ठते ॥
अयं च सभ्यानामेव दण्डः जेतुः दुर्दर्शनाप्रयोजकत्वे वेदितव्यः। प्रयोजकत्वे तत्रास्थापि दण्डः, तथा च वृहस्पतिः—
निश्चिस वहुभिस्सार्धे ब्राह्मणैश्शास्त्रपारगैः।
दण्डयेज्जयिना साक्तं पूर्वे सभ्यांस्तु दोषिणः॥
जियना साकं दण्डनमापि सभ्यदण्डप्रकरणोक्तविधिनैवेसाह
याज्ञवल्क्यः—

दुईष्टांस्तु पुनईष्ट्वा व्यवहारात्रृषेण तु ।

सभ्यास्तेजियनो दण्ड्या विवादाद्विगुणं दमम् ॥
दुईष्टान् सजियसभ्यदोषेणेत्यर्थः । यदा तु साक्षिदोषेण व्यव
हारस्य दुष्टता, तदा साक्षिदण्डत्रकरणोक्तिविधिना साक्षिण
एव दण्ड्या न जयी नापि सभ्याः । यदा पुनः सजियसाक्षिदोषेण, तदा त एव दण्ड्याः, न सभ्या इत्यभित्रायः । एवमसन्तोपमात्रेण पुनन्यीयः प्रकृतस्य निर्णयस्य न्यायाभासत्वे साति
विधातव्यः । सम्यङ्न्यायत्वे नारद आह—

तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः। द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्॥

विधर्मतः धर्मशास्त्राविरोधतो जातिमाति यो विवादी सम्याङ्गणीतमप्यौद्धत्यात् मन्यत इत्यर्थः । अत्र व्यवहारसमाप्तेरन्यथात्वासम्भवात् पुनर्न्यायानन्तरमापि प्राङ्न्यायपराजित एवाङ्गीकृतदण्डेन दण्ड्य इत्याह याज्ञवत्क्यः—

यो मन्येतार्जितोस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेत् द्विगुणं दमम् ॥
एवं सदण्डः पुनन्यायः सन्तपोत्तरसभायामेव, नृपस्चेव दण्डनेऽधिकारात् । नृपरिहतायां त्त्तरसभायां दण्डविराहितः पुनन्यीयः
कार्यः दण्डांशस्य नृपेककार्यत्वात् । उत्तरसभयाच पूर्वसभातो
ज्यायस्या भवितव्यं, अन्यथा सन्देहानिष्टत्तैः । सभ्यानां च ज्या-

यस्त्वतारतम्यं निर्णेतृनिर्णयप्रकरणे दर्शितम् । नृपसभादृष्टस्य कुदृष्ट्वशङ्कायां तु प्रकृष्टनृपान्तरसभायां पुनन्यीयः, तथाच स्मृत्यन्तरम्—

न्यायापेतं यदन्येन राज्ञाऽज्ञानकृतं भवेत् । तद्प्यन्यायविहितं पुनन्यीये निवेशयेत् ॥ यत्पुनः पितामहेनोक्तं—

> य्रामे दृष्टः पुरं यायात्पुरे दृष्टस्तु राजानि । राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्नयः ॥

इति, तत्पूर्वसभातः प्रकृष्टसभान्तरालाभाविषयम् । स्ववाक्य-जितस्य तु प्रकृष्टसभान्तरसद्भावेऽपि न पुनन्याय इत्याह नारदः—

साक्षिसभ्यावसनानां दृषणे दर्शनं पुनः।
स्ववाचैव जितानां तु नोक्तः पौनर्भवो विधिः॥
साक्षिवाक्यात्सभ्यैरेव कृताद्वा निर्णयात् पराजितानां व्यवहारस्व पुनर्दर्शनं पूर्वदर्शनस्व दूषणे सतीसर्यः। सभ्यग्रहणममात्यादेरुपलक्षणार्थम्। अत एव मनुः—

अमासः प्राद्धिवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथा । तस्त्वयं नृपतिः कुर्यात्तं सहस्रं च दण्डयेत् ॥ इति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां पुनर्न्यायः

अथ कृतानिवर्तनम्

तत्र मनुः---

यागाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाऽप्युपिधं पश्येत्तत्सर्वे विनिवर्तयेत् ॥

योगः परकीयधनस्यात्मीयत्वापादकहेत्वभावेऽपि याचितकादि-ना हस्तगतत्वादिसम्बन्धः । अध्यत्रतं वन्धकरणम्, योगेनाध-मनम् । एवं योगविक्रीतादाविप विग्रहः । यमोपि—

> वलाइतं वलाद्भुक्तं वलाद्यचापि लेखितम् । सर्वान् बलकृतानथीन्निवलीनाह् वै मनुः॥

कात्यायनोऽपि-

उन्मत्तेनैव मत्तेन तथा भावान्तरेण वा । यहत्तं यत्कृतं वाऽथ प्रमाणं नैव तद्भवेत् ॥

नारदोपि-

यद्वाल्ठः कुरुते कार्यमस्वतन्त्रस्तथैव च ।
अकृतं तदिति प्राहुः शास्त्रे शास्त्रविदो जनाः ॥
वालास्वतन्त्रावपि तेन निरूपितौ—

गर्भस्थेस्सदृशो क्षेय आऽष्टमाद्वत्सराच्छिशुः । बाल आषोडशाद्वर्षात् पौगण्डश्चापि शब्द्यते ॥ परतो व्यवहारज्ञस्त्वतन्त्वः पितरं विना ॥

इति । अनेन पितृमानस्वतन्त्र इत्यर्थादुक्तम् । उक्तंच शङ्कलिखि-Smritt Cha.—Vol. III 89 ताम्यां—'अस्वतन्त्राः पितृमन्तः' इति । पितृग्रहणं मातुरापे प्रदः र्शनार्थम् । अत एव नारदः—

जीवतोर्न स्वतन्त्रः स्याज्जरयाऽपि समन्वितः ।

इति । जीवतोर्मातापित्रोरिति शेपः।

तयोरिप पिता श्रेयान् वीजप्राधान्यदर्शनात् । अभावे वीजिनो माता तदभावे तु पूर्वजः॥

इति तेनैवानन्तरमुक्तत्वात् । अनेन ज्येष्ठवानप्यस्वतन्त्र इत्यु-क्तम् । न केवलं पितृवातुज्येष्ठवानेवास्वतन्त्र इसाह स एव—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्रा दासा ये च परिग्रहाः ॥ इति ! परिग्रहा उपजीविनः । कार्यविशेषेषु स्त्रीणामस्वातन्त्रच-मिस्राह हारीतः—

दानार्थे वा धनार्थे वा धर्मार्थे वा विशेषतः। आदाने वा विसर्गे वा न स्त्री स्वातन्त्रचमर्हाते॥ अन्यानप्यस्वतन्त्रानाह नारदः—

अस्वतन्त्राः प्रजास्सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः । अस्वतन्त्रः समृतीद्दशप्यः आचार्ये तु स्वतन्त्रता ॥ अत्र स्वतन्त्रानिरूपणं चास्वतन्त्रकृतं कार्ये तेनैव निवर्तनीयामाति दर्शयितुम् । अत एव कात्यायनः—

अस्वतन्त्रकृतं कार्यं तस्य स्वामी निवर्तयेत् । न भर्त्रा विवदेतान्यो भीतोन्मत्तकृतादृते ॥ भीतोन्मत्तादिकृतनिवर्तने राज्ञ एवाधिकारात् भीतोन्मत्तादि- स्वामिना कृतनिवर्तकोन सहान्यस्य विवादो नात्यन्तानुचित इत्यभिपायः । अस्वतन्त्रकृतनिवर्तनस्य कचिद्पवाद्माह ना-रदः—

एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ।

पुत्रः पत्युरभावे वा जाया वा पतिपुत्रयोः ॥

तथा दासकृतं कार्यमकृतं परिचक्षते ।

अन्यत्र स्वामिसन्देशान्न दासः प्रभुरात्मनः ॥

पुत्रेण च कृतं कार्य यत्स्यादच्छन्दतः पितुः ।

तद्यकृतमेवादुः दासः पुत्रश्च तौ समौ ॥

इति । अस्वतन्त्रकृतनिवर्तनं स्वतन्त्वानुमत्यभावविषये कार्यमिन्त्यर्थः । कात्यायनोषि—

न क्षेत्रगृहदासानां दानाधमनविकयाः। अस्वतन्त्रकृतास्सिद्धिं प्राप्तुयुर्नानुवर्णिताः॥

अनुवर्णितास्तु सिद्धिं प्राप्तवन्तीत्याह स एव—
प्रमाणं सर्व एवते पण्यानां क्रयविक्रये ।
यदि संव्यवहारं ते कुर्वन्तोष्यनुमोदिताः ॥
एवं क्षेत्रादीनां क्रयादिकरणे स्वतन्त्रेण नियुक्ताः भ्रात्रादयोऽस्वतन्त्राः प्रमाणं स्युरित्याह स एव—

क्षेत्रादीनां तथैव स्यः भ्राता भ्रातृम्रतस्म्रतः । निस्रष्टाः कृत्यकरणे गुरुणा यदि गच्छता ॥ निस्रष्टाः नियुक्ता इत्यर्थः । तथाच वृहस्पतिः — यस्स्वामिना नियुक्तस्तु धनायव्ययपालने ।
कुसीदक्रिपवाणिज्ये निस्रष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥
प्रमाणं तत्कृतं सर्वे लाभालाभव्ययोदयम् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा स्वामी तं न विसंवदेत् ॥
इति । कात्यायनोपि निस्रष्टार्थकृतं कार्यं न स्वामी परिवर्तियतुमईतीत्याह—

निस्तृ शियास्मन् तस्मिन्नर्थे प्रभुस्तु सः।
तद्भवी तत्कृतं कार्य नान्यथा कर्तुमहिति ॥
एवमनुमतिनियुक्तचोरभावेऽपि कुटुम्वभरणार्थमस्वतन्त्रकृतं स्वतन्त्रो नान्यथाकर्तुमहितीत्याह मनुः—

कुटुम्वार्थे त्वधीनोपि व्यवहारं समाचरेत् । स्वदेशे वा विदेशे वा तन्नचायान्न विचालयेत् ॥ एवमापत्प्रतीकारार्थेऽपि द्रष्टव्यम् । तथाच नारदः—

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि । स्त्रीग्रहणमस्वतन्त्रोपलक्षणार्थम् । एवंचापद्यस्वतन्त्रकृतान्यपि प्र-माणानीसार्थिकोऽर्थः प्रत्येतव्यः । अत्रापवादप्रदर्शनार्थमाह स एव—

विशेषतो ग्रहक्षेत्रदानाधमनविक्रयाः ।

इति । ग्रहक्षेत्रयोदीनाधमनविक्रयास्त्वापद्यप्यस्वतन्त्रकृता न सिधचन्तीसर्थः । एवं तद्भाष्ये व्याख्यातम् । तथा स्वतन्त्रेणाप्यस्वतन्त्रकल्पेन कृतं कार्यं न सिधचतीसाह नारदः—

स्वतन्त्रोऽपि हि यत्कार्यं कुर्यादपकृतिं गतः । तद्प्यकृतमेवाहुरस्वतन्त्रत्वहेतुतः ॥

स्वतन्त्राश्च तेनैव निरूपिताः ---

त्रयः स्वतन्त्रा लोकेऽस्मिन् राजाऽऽचार्यस्यथैव च ।
प्रतिप्रति च सर्वेषां वर्णानां स्वग्रहे ग्रही ॥
स्वातन्त्रचं तु स्मृतं ज्येष्ठे ज्येष्ठचं गुणवयःकृतम् ।
इति । ग्रहीति वदन् ग्रहिण्याः स्वतन्त्रता नास्तीति दर्शयति ।
तेन यद्यपि मातृमतोऽस्यतन्त्रतोक्ता, तथाऽपि मातुस्स्वतन्त्रताऽवगन्तव्या । अत एवाभर्तृकया कृतस्य कार्यस्य पुत्राद्यनुमसैव
सिद्धिरुक्ता । भक्तुतिं गतः इत्यस्याप्यर्थस्तैनैव दर्शितः—

कामक्रोधाभिभूतार्ता भयव्यसनपीडिताः ।
रागद्रेपपरिताश्च ज्ञेयास्त्वप्रकृतिं गताः ॥
एवंच स्वतन्त्रप्रकृतिस्थकृतं कार्यं सिध्यति, न त्वप्रकृतिस्थस्वतन्त्रकृतिस्थाहं स एव—

कुले ज्येष्ठस्तथा श्रेष्ठः प्रकृतिस्थश्च यो भवेत् । तत्कृतं स्यात् कृतं कार्यं नास्वतन्त्रकृतं कचित् ॥ स्वतन्त्रपकृतिस्थकृतमापे पुत्रविक्रयादि कार्यं न सिधचाति, तत्र तस्यास्वतन्त्रस्वादित्याइ कात्यायनः—

> सुतस्य सुतदाराणां विशित्वं त्वनुशासने । विक्रये चैव दाने च विशित्वं न सुते पितुः॥

¹ प्रकृतिस्थथ, इति पाठान्तरम्,

अतस्सुतिविक्तयादि कार्यं स्वतन्त्रप्रकृतिस्थक्तमिष निवर्तनीयपिसिमिप्रायः । एकपुत्रविषयमेतिदिति दत्ताप्रदानिकारूयपदे
वक्ष्यामः । एवमनेकवारकृतैकर्तृकैककर्मकविक्रयादाविष पुनर्विक्रयादिविशित्वाभावान्न सिध्यतीसाह याज्ञवरुक्यः—
सर्वेष्वर्थविवादेषु वलवत्युत्तरा किया ।

सर्वेष्वयेविवादेषु वलवत्युत्तरा क्रिया । आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वी तु वलवत्तरा ॥ इति । तेनोत्तरादिकिया निवर्तनीयेत्यभिप्रायः ॥ इति स्मृतिचिन्द्रकायां कृतनिवर्तनम्

अथ वालादिधनविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते. तत्र मनुः—

वालदायादकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।
यावत् स्यात् स समावृत्तो यावद्राऽतीतशैशवः ॥
वालदायादकं वालस्वामिकं रिक्थं द्रव्यम् । अविद्यमानाप्तपुरुषविषयमेतत् । वालग्रहणं स्वधनरङ्गणासमर्थोपलङ्गणार्थमिति स्पपृथितुमाह स एव—

वशाऽपुत्रासु चैवं स्यात् रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतित्रतासु च स्त्रीपु विधवास्वातुरासु च ॥
वशा वन्ध्या । अपुत्रा अविद्यमानपुत्रा । निष्कुला स्वपक्षहीना ।
वशाप्रभृतीनां धनं येऽपहरन्ति तेषां दण्डमाह स एव—

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुस्स्ववान्धवाः । ताब्चिछण्याचे।स्वण्डेन धाार्मिकः पृथिवीपतिः॥

रक्षणसमर्थस्यापि धनं तत्स्थानापिश्वानादिना स्वाम्यनुपात्तम-न्येन तूपादाय राज्ञे विज्ञापितं जनसमूहेषु विख्याप्य राज्ञा रक्ष्यमिस्राह गौतमः—

'प्रणष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रद्ययुः । विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ' इति । यत्तूक्तं मनुना—

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्रचब्दं निधापयेत् ॥

इति, तदत्यन्तदूरदेशे स्वामिस्थितिसम्भावनाविषयम् । निधापनं च स्वधनामिश्रभावेन राज्ञा कार्य, तथा च स एव—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठे युक्तैराधिष्ठितम् ।
ये तत्र चोरा गृह्णीयुः तान् राजेभेन घात्तयेत् ॥
स्वामिनं प्रति प्रणष्टमन्येन च छव्यं प्रणष्टाधिगतम्। इभेन हास्तिना । प्रणाष्टाधिगतस्य द्रव्यस्य प्रयर्पणमाह याज्ञवल्क्यः—

प्रणाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ॥
इति ! धनी च तद्धनं स्वामित्वमुद्धान्य गृह्णीयात् । तथाच मनुः—
ममेदमिति यो ब्यात् सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसङ्ख्यादीन् स्वामी तद्द्व्यमहीते ॥
सो मोदणिति वसात स्वतस्य स्वापीन्ववस्याः स्वयप्ति

यो ममेदिमिति बूयात् स तस्य स्वामित्वज्ञानाय राजपुरुपैः किस्मिन् देशे कास्मिन् काले कीदग्वर्णे कीदशसंस्थानं किंसङ्ख्याकं

किंपरिमाणकं प्रणष्टिमिति पृष्टो यादशं प्रणष्टस्य संस्थाना-दिकं तादशमेव वदन् तद्रव्यं ग्रहीतुमईतीत्यर्थः । विसंवादे त्वस्वामित्वात् ग्रहीतुं नाईतीत्यभिष्ठायः । प्रत्युत परद्रव्याप-हारे प्रष्टक्तत्वात् दण्डमईतीत्याह स एव—

> अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः। वर्णे रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमईति॥

तत्त्वतः अवेदयानो विसंवादं कुर्वाणः तत्समं प्रणष्टाधिगतः समम् । प्रणष्टाधिगतं संवत्सरादर्वागेव ग्रहीतुमहेतीसाह या-ज्ञवल्क्यः—

> शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् । अर्वाक्संवत्सरात् स्वामी हरेत परतो नृपः ॥

अत्यन्तदूरदेशस्थस्वामिविषये तु मनुराह-

अर्वाक् त्रचव्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिईरेत् ।

इति । ननु नृपतिर्हरेदित्येतत् परद्रव्यापहारप्रतिषेधकशास्त्रविरुद्धं, सस्यं—अत एवास्य पृथङ्किहितस्थानात् नृपतिः स्वधनस्थानपाह रेदित्यर्थोऽवगन्तव्यः । एवश्चावाधिमातिक्रम्यागतायापि स्वामिने रूपसङ्ख्यादि।भिभीवितं प्रणष्टाधिगतं देयमेव । किंतु ततः किंचिद्रव्यमवध्यतिक्रमापराधात् नृपो गृह्णीयात् । तथाच स एव—

आददीताथ पद्भागं प्रणष्टाधिगतात् नृपः । दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥

अथेयितिकान्तावधेः स्वामिनस्समागमनानन्तर्यमुच्यते। समागम-स्वात्यन्तिविल्णम्वे पष्ठो भागः। अतिविल्णम्वे तु दक्षमो भागः विल्णम्बाभावे तु द्वादशो भाग इति व्यवस्था मन्तव्या। यतु गौत-मेनोक्तं—' अर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थः राज्ञश्लेपः' इति, तदितिकान्ताः विश्वकस्य स्वामिनो नाशनिश्चयविषये द्रष्टव्यम्। स्वामिनि श्चिय-माणे त्वधिगन्तुः वृषभागचतुर्थाशो भवतीयस्मादेव वचनात् गम्यते। यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

> पणानेकशफे दद्यात् चतुरः पश्च मानुषे । महिपेऽष्ट गवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥

इति । तदेकशफादौ विशेषशास्त्रं मन्कपर्भागाद्यादानविधे-विधकमिति कैश्चिद्वचाख्यात्तिभिरुक्तम् । अन्यैस्त्वेकशफादा-विधगन्त्रे देयं निरूपयितुं तादित्युक्तम् । प्रणष्टाधिगतनिधिहरण-मिथकुस विशेषमाह मनुः—

> ममायमिति यो ब्र्यानिधि सत्येन मानवः। तस्याददीत पट्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ अनृतं तु वदन्दण्ड्यस्स वित्तस्यांशमष्टमम्॥

इति । ममायं, यतो मया मत्पुरुपैर्वा निहित इति सत्येन रूप-सङ्ख्यासंवादादिप्रमाणेन ज्ञापयेदित्यर्थः । स्वामिनो निर्गुणत्वे Smrtt Cha.—Vol. III 40 पर्भागमाददीत । सगुणत्वे तु द्वादशभागामिति व्यवस्थाऽत्र मन्तव्या । तथा निधिस्वामिनो विद्वद्वाह्मणत्वे तु तेन राज्ञे न किंचिदापि दातव्यामित्याह स एव—

> विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् । अशेपतोप्याददीत सर्वस्थाधिपातिर्हि सः ॥

पूर्वोपिनिहितं स्विपित्रादिभिरुपिनिहितम् । विद्वद्भहणं पद्किमि णोप्युपलक्षणार्थम् । अत एव विसिष्ठः—'ब्राह्मणश्चेदिधगच्छेत् पद्भीमु वर्तमानस्सर्वे हरेत्' इति । पट्किमु यजनादिष्वित्यर्थः। यत्पुनर्मनुनोक्तम्—

निधीनां हि पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्थभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरिधपितिहिं सः ॥
इति, तत् उक्तलक्षणत्राह्मणाधिगतास्मर्यमाणस्वामिकनिधिविषयं,
पुराणानामित्यभिधानात् । यतु विसिष्ठनोक्तम्—'अवज्ञायमानं
वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेदिधगन्त्वे पष्टमंशं प्रदाय' इति,
तदुक्तलक्षणरहिताधिगन्ताविषयम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

इतरेण निधौ लब्धे राजा पष्टांशमाप्नुयात् । अनिवेदितिवज्ञातो दाप्यस्तदण्डमेव च ॥ विद्यापद्भूमसम्पन्नब्राह्मणादितरस्मै निध्यधिगन्त्रे दातुं राजा पष्टां-श्रमधिगतनिधिसकाशादाहरेदिति पूर्वार्धस्यार्थः । अधिगतनिधि-वश्रकात्तं निधि सर्वे शक्त्यपेक्षया दण्डं च राजा यृह्णीयादि-त्युत्तरार्धस्यार्थः । राज एवाधिगन्तृत्वे मनुराह— यत्र पश्येत्विर्धि राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्मात् द्विजेभ्यो दत्वार्ध्य शेषं कोशे निवेशयेत् ॥
स्वकीयनिधेरिधगमे तु सर्वं कोशे निवेशयेत् । 'निध्यिधगमो
राजधनम्' इति गौतमस्मरणात् । चोरहृतं धनं प्रति तेनोक्तं—
'चोरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत्, कोशाद्वा दद्यात्' इति ।
प्रथमपक्षकरणासमर्थविषये द्वितीयः पक्षः । यथाऽऽह च्यासः—

प्रसाहतुमशक्तस्तु धनं चोरैहितं यदि ।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यात् अशक्तेन महीक्षिता ॥ इति ॥
इति स्मृतिचन्द्रिकायां वालादिधनविषयाणि.

श्रीकेशवादित्यसमुद्भवस्य देवस्य शान्तद्विजराजमूर्तेः। सचन्द्रिकां प्राप्य सुखेन छोकाः कुर्वन्तु सर्वे व्यवहारकर्म॥

इति सकलविद्याविशारद श्री केशवादित्यमहोपाध्यायसूनु याज्ञिक देवणमहोपाध्याय
सोमयाजिविराचितायां स्मृतिचिन्द्रकायां व्यवहारकाण्डे
प्रथमः पारिच्छेदः

6 m

10 700

अत्रयं प्रकरणानुपूर्वी

व्यवहारस्वरूपनिरूपणम् । अष्टादशपदनिरूपणम् । व्यव-हारभेदः । निर्णेतृनिर्णयः । धर्मस्थानेऽवस्थानम् । व्यवहारद-र्शनविधिः । आसेधविधिः । व्यवहारदर्शनोपक्रमः । प्रतिज्ञापादः । उत्तरपादः । विवादविषयाणि । प्रत्याकलितपादः । क्रियापादः। लेख्यनिरूपणम् । लेख्यपरीक्षा । भुक्तिनिरूपणम् । साक्षिलक्ष-णानि । साक्षिभेदाः । असाक्षिभेदाः । साक्ष्युद्भावनम् । साक्षि-परीक्षा । साक्ष्यनुयोजनिवाधिः । साक्ष्यप्रश्नविधिः । साक्षिवादः विधिः । साक्षिवचौविषयाणि । साक्षिविषयाणि । असाक्षिप-त्ययाः । दिव्यनिरूपणम् । अभियोगालपत्वमहत्त्वज्ञानोपयोगी-नि । धनपरिमाणतो दिव्यव्यवस्था । विवादिजात्यादितो दि व्यव्यवस्था । ऋतुतो दिव्यव्यवस्था । दिव्यदेशाः । घटनिर्माण-विधिः।सर्वदिब्यसाधारणविधिः।धटारोपणविधिः।अग्निविधिः। कोशाविधिः । तण्डुलविधिः । तप्तमापविधिः । फालविधिः । धर्मजदिव्यविधिः।निर्णयादिक्कसम् । दण्डविषयाणि । पुनन्यीयः। कृतनिवर्तनम् । वालादिधनविषयाणि । इति ॥ ४७॥

॥ व्यवहारकाण्डे प्रथमपरिच्छेदे प्रकरणानुपूर्वी ॥





BL 1215 k5D4 1914 v.5

pt.1

BL Devenne Phatta 1215 Smrticendrika



PLEASE DO NOT REMOVE CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

